ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क—८९

अपराजिता

भगवती शरण सिंह

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयु.

१०।१५।२

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥

१।१६४।२२

मुझे केवल इतना कहना है

इस संग्रहकी कहानियाँ पहले कुछ पत्र-पत्रिकाओंमें छपीं, कुछ प्रसाद परिषद् काशीकी बैठकोंमें साहित्यिकों और मित्रोंके सम्मुख पढ़ी गईं और कुछ आज भी वैसी ही अप्रकाशित और अनजानी पड़ी थीं। जिन मित्रोंने इन्हें पढ़ा और सुना था वे मिलनेपर, और लिखने और इन्हें प्रकाशित करनेका आग्रह करते ही रहे। पर नौकरी कर लेनेके बाद ऐसा लगता था मानो लिखने-पढ़नेके क्षेत्रमें जाना लिखने-पढ़नेवालोंके साथ जबरदस्ती करना होगा। लिखने-पढ़नेके लिए जितने अध्यवसाय, चिन्तन, मनन, एकान्त और अनुभवकी आवश्यकता होती है वह कोल्हूके बैलके पास कहाँ? पर थोड़े ही दिनोंमें देखा कि नौकरीकी यह परिभाषा गलत थी। आज भारतके प्रत्येक नवयुवकको, चाहे वह नौकरी कर रहा हो अथवा व्यवसाय, नौकरी चाहे शासनकी हो अथवा व्यवसायीकी, अनुभवके नये क्षेत्र और उपादान, साहसके नये पंख और आशाकी नई दिशाओंकी कमी नहीं। इस क्षेत्रके मेरे कई अग्रज यह कहा करते हैं कि कारयित्री प्रतिभाके प्रस्फुरणके लिए किसी न किसी अभावकी प्रतीति आवश्यक है। मैं देखता हूँ प्रगतिके इन क्षणोंमें, आशा और उत्साहकी इन उमंगोंमें भी किसी न किसी अभाव और अनिश्चयका कुहासा बना ही हुआ है। किसी भी दृष्टिसे सोचनेपर आजका क्षण बीते क्षणोंसे अधिक आकर्षक और विस्मयकारी लगता

अपराजिता

• • अपराजिता

[एक]

उसे गानेका रोग था। चलते-फिरते, उठते-बैठते हर समय, हर घड़ी वह गुनगुनाया करती। जब निश्चिन्त बैठती स्फुट स्वरमें गाती थी। किन्तु उस समय वह बच्ची थी। उसको छोड़ अन्य कोई भी उसके शैशव गानको कान न देता था। पर वह गुन-गुनाती गाती गई और बड़ी हुई। पढ़ने लगी अपने आश्रयदाताकी एकमात्र कन्या मालिनीके साथ। उसके माता-पिताने क्या नाम रखा था मालूम नहीं, किन्तु रायबहादुरके घर लोग उसे नीमा कहते थे।

हाँ तो वह बड़ी हुई। गला उसका मँज गया। रेशे साफ हो गये। राग-रागिनियोंके ज्ञानसे उसके गलेमें एक लोच आ गया। लोग मुग्ध होने लगे। वह संगीत निश्चित आधारपर सीखने लगी किन्तु गानेका समय वह निश्चित न कर सकी। उसका गुनगुनाना जारी रहा। कभी-कभी उसे स्कूलमें डाँट तक सुननी पड़ती थी। पर उस बेचारीका क्या दोष? आदत जो थी। अब वह नवें दर्जेमें पढ़ती थी। एक साल और, और उसकी पढ़ाई समाप्त हो जायगी। ऐसा ही उसने सुन रखा है, रायबहादुरका मत है।

कक्षाकी सबसे बुद्धिमती लड़की नीमा अब खोई-सी रहने लगी। एक दिन स्कूलके अहातेमें एक कुंजके पास बैठी हुई वह कुछ

सोच रही थी। सम्भवतः अपने बारेमें ही। सोचती होगी क्या उसे आगे पढ़नेका अधिकार नहीं है? क्या वह और आगे नहीं पढ़ सकती? क्या वह इतनी परवश है? मैं सोचता हूँ, है। क्यों नहीं है? जब उसे खाना, कपड़ा, पढ़ाईका खर्च और अन्य बहुत-सी वस्तुएँ कोई दूसरा देता है जिस पर उसका जन्मगत कोई अधिकार नहीं तो वह जब चाहे बन्द भी कर दे सकता है। उसने कुछ अपने माता-पितासे तो पाया नहीं। फिर दूसरोंकी दी हुई सुविधा पर उसे अपने मनसे चलनेका क्या अधिकार? तो क्या पितृ-परम्परा-प्राप्त धनका इतना महत्त्व?

वह अभी सोच ही रही थी कि मालिनी उधरसे चहकती हुई निकली। उसने नीमाको देखा। नीमा उठ खड़ी हुई और हँसती हुई उसके साथ हो ली। दोनों ही वहाँसे चलकर शेडमें पिंग-पांग खेलने लगीं।

"नीमा, जामुन खाओगी?"—मालिनीने पूछा। मालिनीके पास पैसे थे।

"नहीं"—मुसकराती हुई नीमाने कहा।

मालिनीका चेहरा उतर गया। वह फीकी पड़ गई। उसकी हरी साड़ीका रंग हलका होता हुआ-सा जान पड़ा। वह प्वाइंट लूज़ कर गई। नीमा मालिनीको समझती है और मालिनी नीमाको। दूसरोंके लिए वह केवल एक प्रश्न और उत्तर था, किन्तु मालिनीके लिए वह क्या था इसे नीमा जानती थी और नीमाने वह उत्तर क्यों दिया यह मालिनी समझती थी। वे दोनों ही एक दूसरेके हृदयमें पैठ गई थीं। हँसी, खेल, आग्रह, विग्रह, मान, दुराव हर

समय और हर कुछ वे दोनों करती थीं किन्तु एक दूसरेके हृदयकी पकड़ न छूटती थी। मालिनी नीमाकी बात सोचती थी और नीमा बातके विधायकको। दिन भर दोनों ही कुछ सोचती रहीं। क्लासमें मन न लगता तो प्यास लगती थी। मालिनी कभी-कभी उद्वेगमें उस बात कहनेवाली नीमाको पीछे फिर कर देखती। देखती कि यह कौन है, कैसी है? अपनेको अन्दाजती थी कि क्या वह नीमाको समझ सकती है। नीमा इस दृष्टिक्षेप पर केवल मुसकरा देती। मालिनीको भी मुस्की आ जाती, मगर बात चलती रहती, मनमें, आंखोंमें।

छुट्टी हुई। दोनों ही गाड़ीमें जा बैठीं। मालिनी अपनी गाड़ीमें और नीमा मालिनीकी गाड़ीमें। दोनों चुप थीं। नीमा कुछ गुनगुना रही थी, उसकी चुप्पी केवल मालिनीसे थी, अपनेसे नहीं। एकाएक मालिनीने कहा—"क्यों नीमा, तू ऐसी बात क्यों कह देती है?"

नीमा—"कैसी?"

"ऐसी ही। तूने जामुन क्यों नहीं खाये। मुझे लगता है, तेरा हृदय छोटा है। तू मेरे पैसेको अपना समझनेकी विशदता नहीं दिखा सकती। क्या तूने जामुन इसीलिए नहीं खाये कि वे पैसे मेरे थे? यदि यह बात है तो मैं कहूँगी कि तू दिलकी छोटी है।"

—मालिनीने बहुत साफ कहा। इस कथनमें दुराव नहीं था। गुनगुनाती हुई नीमा मुसकरा पड़ी। उसे तनिक भी बुरा न लगा। उसने कहा—"मैं दिलकी छोटी नहीं हूँ मालिनी, यह तू मेरी बात मान ले। उस दिन खादी सप्ताहमें मैंने हुँडी नहीं खरीदी और कुछ रुपये दान नहीं दिये, आज जामुन नहीं खाये तो इससे छोटी नहीं

हो गई। तूने कहा भी कि मुझसे रुपये ले ले, लेकिन मैंने नहीं लिया। तब तूने कहा, तेरे अन्दर त्यागकी प्रवृत्ति नहीं है। किन्तु कुछ रुपये दान दे देनेसे ही तो त्याग नहीं होता। और यह तो सच ही है कि तेरे पैसे तेरे ही हैं, मेरे नहीं। उनका उपयोग तभी तक कर सकती हूँ, जब तक तू है और तेरा मन है। मैं तो समझती हूँ कि अमीर करोड़ोंका दान करके उस गरीबके चार आने दानकी बराबरी नहीं कर सकता, जिसकी दिन भरकी वह कुल कमाई थी।"

मालिनीने कहा—"अच्छा तो तू यह···।" वह उतना ही कह पाई थी कि गाड़ी रुकी और दोनों घरके भीतर हुईं।

[दो]

राय बहादुर सुलझे हुए विचारके मंजे हुए आदमी थे। उनकी विचार-प्रणाली भी आजकी स्त्रैण सभ्यताकी विचार-प्रणालीसे खूब मेल खाती थी। सच तो यह है कि उनका मतभेद बहुत कम लोगों से देखा गया। या, यों कह सकते हैं कि उनसे मतभेद करनेका साहस कुछेकमें ही देखा गया। वे दलबन्दीसे अलग अपने में रहने वाले जीव थे। यह कोई न कह सका कि ये सरकार भक्त हैं अथवा कांग्रेसी, लिबरल हैं कि हिन्दूसभावादी। कुछ-कुछ अवसरवादी कहे जानेको छोड़कर और ये कोई वादी न थे। सनातन-धर्मियोंका उनके यहाँ बड़ा आदर था, आर्यसमाजी उन्हें अपने प्रचारका स्तम्भ समझते।

खैर, तो अबकी हाई स्कूल पास कर लेने पर नीमा और मालिनी दोमें से किसीने कालेज नहीं ज्वाइन किया। चाहे कोई

माने या नहीं, राय बहादुर कहते—"किसी भी कालेजकी लड़कीसे हमारी लड़कियाँ कम ज्ञान नहीं रखतीं।" बात भी सच थी। स्कूल तो वे प्रचलनके लिए जाती थीं। उनकी वास्तविक शिक्षा तो राय-बहादुरकी सामाजिक और आर्थिक दशासे होती थी। यद्यपि उन दोनोंकी ही इच्छा उच्च शिक्षा प्राप्त करनेकी उतनी ही तीव्र थी जितनी किसीकी भी हो सकती है, किन्तु पिताके अनुशासनने उन्हें चुप रहनेको बाध्य किया था।

इन दिनों राय बहादुरको उठते-बैठते, सोते-जागते एक ही बातकी चिन्ता थी और वह इन दोनोंका विवाह। यद्यपि उनकी और एक साधारण व्यक्तिकी चिन्तामें उतना ही अन्तर था जितना कीरी और कुञ्जरमें, फिर भी द्रष्टव्य तो दोनों ही हैं। यही कारण है कि राय बहादुरको भी चिंतित कहना पड़ता है। उनकी चिन्ता यही थी कि वे हर समय विवाह-समारोहकी ही बातें करते थे। हर समय वे घरको सजाने, बहुमूल्य सामान मँगाने और कौन-कौन वस्तु कहाँ-कहाँ से आयेगी, यही परामर्श करनेमें आनन्दका अनुभव कर रहे थे। हाँ, वरके विषयमें जरा उत्सुक थे। वह भी नीमाके।

मालिनी और नीमाकी शादी एक ही मण्डपमें हो, इसीका प्रयत्न राय बहादुरने किया और यही उनकी वांछा थी। मालिनी का विवाह तो सिंधके एक बहुत बड़े व्यवसायीके सुयोग्य पुत्रसे निश्चित हुआ था। वर उच्च शिक्षा प्राप्त युवक मनोरंजनके लिए लखनऊ विश्वविद्यालयमें अंग्रेजी साहित्यका अध्यापन कर रहा था। किन्तु नीमाके लिए एक सद्यः उत्तीर्ण पी० सी० एस्० ही पर्याप्त

समझा गया। दोनों ही सुयोग्य वर थे। विशेषकर नीमाके उपरोक्त वरको पाकर रायबहादुर फूले नहीं समाते थे। इसे वह अपनी सबसे बड़ी सफलता और गर्वका विषय अनुभव कर रहे थे। नीमा का वंश और भाग्य तो ऐसा वर प्राप्त करनेका स्वप्न भी नहीं देख सकता था। यह तो राय बहादुरका पराक्रम और मर्यादा थी कि उनके इंगित मात्रसे नीमा नीमा हो गई। मालिनीने भी इस विकल्पका अनुभव किया और पिताके गर्वमें योग देनेके लिए नीमाको उसके सुन्दर भाग्यपर बधाई दी। नीमा मुस्कुरा पड़ी। इन दिनों नीमा अधिक प्रसन्न थी। मालिनीकी शादी जो थी। अब वह अहर्निश किसी-न-किसी राग-रागिनीमें तन्मय रहती। उसकी सुमधुर स्वर-लहरीसे घरकी प्रत्येक वस्तुमें सजीवता आ गई थी। जिस द्वारसे निकल पड़ती, उसीकी बंदनवारमें लटकती हुई पुष्पराशि मानो उसका कंठ चूम लेनेको चू पड़ती।

राय बहादुरका घर इधर महीनोंसे आतिथ्य सत्कार कर रहा है। क्या नज़दीक और क्या दूर सभी जगहसे और सभी प्रकारके सम्बन्धी आ धमके हैं। घर अतिथियोंसे भरा है। उनके दीवान-खानेमें हर घड़ी संगीतके पुजारियोंकी साधना अगरु-धूमपर आसीन होकर प्रत्येकको दूसरे लोकमें पहुँचानेका प्रयत्न कर रही है। और भी न जाने कितनी सजधज और आमोद-प्रमोदके साधनोंके बीच मालिनी और नीमा विलीन हो गई हैं। इन दिनों उनकी झलक भी नहीं दिखाई पड़ रही है। होंगी कहीं वे भी अपनी दुनियाँके चित्र बनाती और बिगाड़ती।

ऐसे ही महीनोंका दिन बीता, और वह दिन ही नहीं, घड़ी

भी आई जब मालिनी और नीमाकी खोज हुई। मण्डप उन दोनों की प्रतीक्षामें आकुल हो रहा था। राय बहादुर देर होते देख व्याकुल हो रहे थे। मुहूर्त टलता देख नौकर और नौकरानियोंपर झल्ला रहे थे। यद्यपि ये दोनोंही विवाह अन्तर्जातीय थे, फिर भी राय बहादुर मुहूर्तकी परम्पराके कायल थे।

एकाएक औरतोंमें खलबली-सी मच गई। एक कोहराम-सा मचता हुआ दिखाई पड़ा। रायबहादुर अभी कुछ कहें या नहीं, तब तक मालिनी दौड़ती हुई आई, और—"पिता जी! इतना ही कह पाया था उस बेचारी ने। स्त्रियाँ उसकी सुश्रूषा कर रही थीं। राय बहादुर एक पत्र पढ़ रहे थे। पत्र नीमाका था। मालिनीको उसके विवाहपर हार्दिक बधाई थी, और लिखा था—

"...पिताजी, आपकी मैं चिर ऋणी हूँ। आप ही के कारण मैं नारी बनी। आपका ऋण जन्म-जन्मान्तरमें भी न चुका सकूँगी। अच्छा होता मैंने आपसे ही अपनी इच्छा प्रकटकी होती और इस दुर्घटनाको बचा लेती। मैं आपके सम्मुख इसके लिए दोषी हूँ। किन्तु न जाने किस दुर्भयने मेरा मुँह सी दिया था। मैं आपसे न कह सकी कि मेरी शादी आप न करें। मैं अब तक इसी विकल्प में पड़ी थी कि मुझे जो चाहिए उससे अधिक मिल रहा है। मैं सोचती हूँ, मेरे लिए यह सब न होना चाहिए था। यह सब आपकी कृपा है। मुझे 'मैं' ही रहना चाहिए था। सम्भव है, मैंने गलतीकी हो। फिर भी आपकी लड़की ही तो हूँ। क्षमा करेंगे। भगवान् ने सकुशल रखा तो फिर आपके दर्शन करूँगी।

—आपकी नीमा।"

राय बहादुरके हाथसे पत्र गिर पड़ा। वे चुपचाप अपने दीवानखानेमें चले गये, और मालिनीका विवाह चुपचाप सम्पन्न हुआ।

[तीन]

बहुत दिनों बाद।

पिछले साल जब गाँधीजीने व्यक्तिगत आंदोलन प्रारम्भ किया तब की बात है। जब सत्याग्रह किसी बड़े आदमीका किसी तांगे-वालेको नौकरसे बुलवाकर एक स्थानसे दूसरे तक जानेसे अधिक कुछ भी नहीं था। जब लोगोंने इसे देश-प्रेम प्रकट करनेका अचूक साधन समझा। जब कुछ रईसोंका हृदय भी जेल जानेके लिए गुदगुदाने लगा। तभी की बात है उस समय लोगोंको प्रिय लगने वाले इस खिलवाड़में भी सचाई तो थी ही। कुछने सच्चे हृदयसे सत्याग्रह किया और उनका आह्वान भी सच्चे ही हृदयसे किया गया।

प्रोफेसरके बंगले पर अपार भीड़ थी, बाहर भीतर, सजे हुए कक्षमें सजी हुई मालिनी सजे हुए टेबुलपर जलपानका सामान सजा रही थी। प्लेटोंके टकरानेके और मालिनी की चूड़ियों की मधुर झंकारके सिवा और कुछ न था। हाँ, मालिनीके मुख पर गर्व की रक्तिम आभा अवश्य प्रस्फुटित हो रही थी। नौकरानियाँ भीतर बाहर आ-जा रही थीं। किसी नौकरानीके जाने की आहट पा मालिनी पीछे मुड़ी। ठगी-सी मालिनी विस्मित थी। आगंतुक महिला थी। मालिनीने हथेलियोंसे आंखें मींच लीं। फिर देखा,

फिर मींचीं। महिला मुसकरा पड़ी। दोनों आकंठ एकाकार हो गईं।

"नीमा, सच कह दो नीमा तुम नीमा ही तो हो ?" मालिनी प्रसन्नतासे विह्वल थी।

"क्या इतने ही दिनोंमें आँखों पर विश्वास जाता रहा"—नीमा मुसकरा पड़ी कह कर।

"किन्तु हृदय पर है नीमा"—मालिनी सोल्लास कह उठी।

बस इतनी ही सी बातोंमें नीमा और मालिनीका टूटा हुआ इतिहास क्रमबद्ध हो गया। जैसे बीचका समय कुछ महत्त्व ही न रखता हो। प्रसन्नताके आवेगमें मालिनीका शरीर पारदर्शी हो रहा था। उसका हृदय प्रसन्नताके निर्मल स्रोतमें छल-छलकर बह रहा था।

"पिता जी कैसे हैं मालिनी ?"—नीमाने पूछा।

"कैसे भूल पड़ी नीमा ?—मालिनी झंकृत हो उठी। उस दिन नीमाने सारा रंग फीका कर दिया था। पिताजी पर उसका वह असर पड़ा, जिसने उनकी जीवन शक्ति ही ले ली। रायबहादुर अपनी वह शक्ति खोकर जीवित ही मृत थे। अब रायबहादुरका उत्साह वायु तरंगों पर नहीं उड़ता। उनकी प्रसिद्धि जैसे कम हो उठी।

"भाईको भर आँख देख न सकी थी, मालिनी। तुम्हारे सुन्दर भाग्य पर बारी न हो सकी थी, बहिन। पिताजीके लिए रसभंग हो उठी थी, सखी। इसीलिए आज आई हूँ। भाई जी

की. यात्रा पर कुंकुम देने।" नीमाने भावावेशमें एक साथ कहा।

"तुझे कैसे खबर लगी, नीमा ?"—मालिनी पर गर्व की आभा पुनः प्रस्फुटित हुई। वह अपने और पतिके त्यागको इंगित कर प्रसन्न हो रही थी।

"भाई की मंगल-यात्राका शुभ समाचार संसार जाने, वृक्षका फल तो दूरवासी खाँय और तरु तले आश्रय लेता हुआ राही एक भी न पा सके, कैसी आश्चर्य की बात है मालिनी !"

"क्या तू पास ही रहती है, नीमा ?"

प्रोफेसरका बंगला, उद्यान और उसके पीछे बड़े-बड़े पक्के मकानों की कतारें केवल एक प्रशस्त सड़कसे असम्बद्ध थीं। उन्हीं पक्के मकानोंके पीछे ही गलीमें साधारण जन रहते हैं। नीमा ऐसोंके ही साथ एक छोटेसे मकानमें उसी दिनसे ही रह रही है जिस दिन केशवने अपने जीवनको उसके साथ एकाकार कर

"ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥"

का स्वस्ति-पाठ किया था। इतने पास रहकर भी नीमा आजतक न आई थी। मालिनीने स्मृति-पथ पर पीछे की ओर दृष्टि फेरी।

"अच्छा नीमा, तुझे आज बताना ही होगा, तू उस दिन ऐसा आचरण क्यों कर बैठी"—सब कुछ समझती हुई मालिनीने नीमा, अपनी प्राणप्रिय नीमाके मुखसे सुनना चाहा।

"सुनोगी मालिनी ? पिताजी मेरे भाग्यके साथ खिलवाड़ कर रहे थे। सम्भव है भाग्य ही उनके सहारे मुझसे खिलवाड़

करता रहा हो। किन्तु मुझे वैसा ही लगा। जिस प्रकार किसी मनुष्यको उसके विपरीत उसे बलात् नीचे की ओर ढकेलना बुरा है, उसी प्रकार उसकी परिस्थितियोंके विपरीत उसे ऊपर ले जाना भी मैं अच्छा नहीं समझती। जिस प्रकार एकका नाम आज दिन शोषण रखा गया है, उसी प्रकार उस दूसरे पोषण को भी मैं घृणा ही करती हूँ। और मालिनी, तू तो जानती ही है, मैं तेरे घर ऐश्वर्यका साधन-स्वरूप हो रही थी। जिस प्रकार तेरे घर अनेकानेक सामान शोभा बढ़ानेके लिए एकत्र हैं, मैं और मेरा पोषण भी पिताजी की श्री-वृद्धिके लिए ही था। मालिनी, मैंने देखा, पिताजीके पंखोंके सहारे अधिक दिन नहीं उड़ सकती थी।"

मालिनीको यह सत्य लगा। वह अभी तक गर्व की जिस गुलाली विजयामें भीन रही थी, उसमें मिर्च अधिक पड़ गई। किन्तु मालिनीने बुरा न माना। कभी तो वे दोनों एक दूसरे की बातका बुरा नहीं मानतीं।

"अच्छा जी, केशव भाईको पा जानेके लिए तुझे बधाई। वे तो यहाँ अक्सर आ जाते हैं, किन्तु तू ही उनकी सफलता है यह उन्होंने कभी भी प्रकट नहीं किया। केशव भाई उनके सहकारी कार्यकर्त्ता हैं।"

नीमा मुसकरा पड़ी। मालिनीने देख लिया। अबकी मालिनी कुछ व्यग्र हो उठी। नीमा सदैव उसे मात देती है। क्या वह कभी नीमाको परास्त कर सकेगी? किन्तु परास्त करने की यह होड़ कैसी! जब दोनों दो शरीर और एक प्राण हैं तब यह कैसा?

"तो तुमने खबर तक न दी। यहाँ सामान रख बैठी हो, और वहाँ इंस्पेक्टरको जल्दी है"—प्रोफेसरने मुसकराते हुए प्रवेश किया।

दोनों उठ खड़ी हुईं। नीमाने अभिवादन किया।

"आपका परिचय?"—प्रोफेसरने पूछा।

"मेरी प्राण और केशव भाई की सफलता की रहस्य"—मालिनी मुस्करा दी।

"अच्छा, बड़ी खुशी है।"

थोड़ी देर बाद, तुमुल जयजयकारके साथ प्रोफेसर विदा हुए। मालिनी प्रसन्नमन विदा दे रही थी। लोग मालिनीको देख रहे थे और मालिनी अपनेको।

[चार]

महीनों बीत गये। इस बीच कई बार नीमा मालिनीके घर गई। मालिनी भी नीमाके यहाँ बराबर आती है। अब तो दोनों ही घर की रानियाँ हैं। दो हृदयों की हैं। दोनोंको अपना घर देखना है फिर भी अवकाश की कमी इन्हें एक दूसरेसे मिलनेमें बाधा नहीं दे सकती। उस दिन जब मालिनी नीमाके घर पहले-पहल आई थी, आश्चर्य चकित थी। इतना काम और अकेले नीमा। अब तो बहुधा आकर शौकसे नीमाके कामोंमें हाथ बँटाती है। किन्तु आज मालिनीका पता नहीं। आज नीमा की इच्छा है कि मालिनी आये। समय भी तो उसका यही है। लेकिन यदि मालिनीका आना इतना आवश्यक था तो उसे कहकर बुला लेना

था। पर नीमाने ऐसा नहीं किया। वह उसे स्वयमागत देखना चाहती थी। वह अपने हर सामानको आँगनमें निकालती जाती थी, और कभी कभी दरवाजे की ओर भी देख लेती थी। उसने एक कीलसे लेकर चारपाई तक बाहर कर दिया। कीलसे छोटी और चारपाईसे बड़ी चीज़ उसके यहाँ दूसरी कोई वस्तु नहीं। अभी केशव भाई भी नहीं लौटे। बच्चा उत्सुक नेत्रोंसे आँगनमें घूमता हुआ, माँ से यह जानने की प्रत्याशा कर रहा था कि यह सब क्यों? यह सारा सामान बाहर क्यों निकाला जा रहा है? क्या माँ घर छोड़ रही है? हाँ, छोड़ रही है। लेकिन उसे तो अभी इतना सोचनेका सामर्थ्य ही नहीं। थोड़ा सामान और रह गया था, कि मालिनी द्वार पर दिखाई पड़ी! चकित-सी मालिनी।

"क्यों नीमा यह सब क्या हो रहा है?"

"तुम्हारे देवरजी की यात्रा जो है।"—नीमाने स्मित किया।

"तो यह सब सामान···"—अभी वह इतना ही कह पाई थी कि नीमा बोल उठी।

"और जुरमानेका रुपया!"

मालिनी खीझ उठी। उसने रोष भरे स्वरमें कहा—"तो तूने मुझसे क्यों नहीं कहा?" मालिनी उल्टे पाँव लौट पड़ी।

मालिनी जब लौटी, तो केशव भाई की यात्रा की पूरी तैयारी हो चुकी थी। बिना किसी टीमटामके पुलिस-इंस्पेक्टर बाहर प्रतीक्षा कर रहा था। केशव भाई भी जिस कार्यके लिए बाहर गये थे, उसे करके लौट आ चुके थे। नीमाके सामानों-

की सूची मुंशी तैयार कर रहा था कि मालिनी आ गई। नीमा पहलेसे ही तैयार थी। मालिनीने कहा—"नीमा।"

"मालिनी, क्या तू अपनी नीमाको नहीं जानती ?"—कहती हुई नीमाके मुख पर स्मित की हल्की सी रेखा दौड़ गई। सच-मुच ही मालिनीकी फिर हिम्मत न पड़ी कि वह कुछ और कहे ! वह ठगी-सी रह गई। केशव भाई, नीमा, बच्चा और मालिनी सभी साथ-साथ बाहर आये। नीमाने कुंकुम लगाया। मालिनीने भी। केशव भाईने अभिवादन किया।

"नीमा, जा रहा हूँ"—केशव भाईने कहा।

"जीजी, आशीर्वाद दो"—फिर दुहराया।

पुलिस वैन पर वे ओझल हो गये। मालिनी चुपचाप खड़ी थी। नीमा उसके गले लिपट पड़ी। मालिनी सिसकियाँ ले रही थी। यह देख नीमाने उसकी ठुड्डी पकड़कर बड़े प्रेम से कहा—"दुत् पगली !" और बच्चेका हाथ पकड़ती हुई कहा—अच्छा मालिनी। नीमा की आंखोंने सब कह दिया, वह चल पड़ी।

मालिनी खड़ी थी। दूर तक पथको निहारती हुई। उसके आगे थी नीमा। पथपर अग्रसर नीमा, और पीछे था उसका घर, जिस पर पुलिसका ताला लटक रहा था।

मालिनीने दूर तक पथ पर देखा और कहा—"अपराजिता नीमा।"

● ●

•• प्यारकी छांह

"आपको 'इसमें' क्या मिलता है ?"—प्रश्न था

उत्तरमें उसने केवल इतना ही कहा—"इसके अलावा मेरे जीवन में और कुछ है भी नहीं ।"

उसने सुना और क्षण भर रुकी । फिर कहा—"शायद मेरे जीवनमें भी अब इसके अतिरिक्त कुछ नहीं ।"

दोनों स्तब्ध थे । क्षण भरके लिए अनिताने अमितको देखा । अमितको ऐसा मालूम हुआ, जैसे उसके जीवनको गति मिल गई हो । उसके आगेका मार्ग प्रशस्त हो गया हो । वह अब उस पर ही चलना चाहता था । उसके कर्त्तव्योंका निर्धारण अनिताके एक उत्तरने, एक दृष्टिने कर दिया था । वह मानो एक उत्तरको पाकर अपने-से सहस्रों प्रश्न पूछ रहा हो । कभी वह पूछता "तुम्हारे एकाकीपनकी सार्थकता कहाँ है ? क्या तुम जगत्के रहस्योंकी उलझनसे ऊब गये हो ? क्या तुम सृष्टिसे दूर हटना चाहते हो ? क्या तुम्हारे लिए जगत्की सामाजिकतामें कोई रस नहीं रह गया ? क्या अनिता तुम्हारे अंतर्जगत्का आकर्षण-केन्द्र बन रही है ? अथवा, वह तुम्हारे भीतर वह विराग उत्पन्न कर रही है जो तुम्हें दूर, बहुत दूर ले जाकर अकेले छोड़ना चाहता है ?" इस प्रकार के कितने ही प्रश्न उसके मनमें उठते और वह एक उलझनमें पड़ जाता ।

अनिताका प्रश्न क्या था ? अमितका उत्तर क्या था ? उसके क्या अर्थ थे ? उसके प्रश्नके "इसमेंसे" क्या अभिप्रेत था ? यदि अमितने उस समय कुछ नहीं समझा था, तो उसने उत्तर किस चीज का दिया ? फिर अनिताने "इसके अतिरिक्तसे" क्या कहना चाहा ? अजब पहेली है अमितका जीवन भी...!

जर्मनीके लिए प्रस्थान करते समय अमितने पितासे कहा था कि वह पढ़ने जा जरूर रहा है, पर उसके अध्ययनका कोई उद्देश्य नहीं रह गया है। केवल पिताका आज्ञा-पालन ही उसकी यात्राका एकमात्र लक्ष्य है। दूर देशमें जाकर सम्भव है वह अपने वातावरणके प्रति स्नेहाकुल हो जाय, सम्भव है वह उससे इतनी घृणा करे कि फिर लौटे ही नहीं। पर पिताको यह विश्वास था कि वातावरण और परिस्थितियोंके परिवर्तनसे उसका मन स्वस्थ हो जायगा। माता स्वर्गारोहणके समय देवेन्द्र ठाकुरसे कहती गई थीं—"अमित मेरा एक ही लड़का है, मैं सुखसे मरूँगी यदि मुझे इसका भरोसा हो जाय कि आप इसीकी नींद सोएँगे और इसीकी नींद उठेंगे।" देवेन्द्र ठाकुरने उस समय प्रौढ़ता ही देहली पर पैर रखा ही था कि महिमामयीका स्वर्गवास हो गया। महिमामयी अमितके प्रति अपनी लालसा प्रकट कर जब उत्तरकी प्रतीक्षा कर रही थीं, उस समय देवेन्द्र ठाकुर केवल निर्निमेष उनको देख रहे थे। उनके गालोंसे गरम जल ढुलक-ढुलक कर महिमामयीके कपोलों पर, फिर उनके अधरोष्ठकी कगारोंसे उनके मुखमें स्रवित हो रहा था। वही उनका अंतिम गंगाजल हुआ। पत्नीके देहान्तके बाद देवेन्द ठाकुर छोटे अमितको लेकर पहाड़ों, जंगलों और बड़े नगरोंमें घूमते रहे।

मालूम नहीं वह किस चीजकी खोजमें थे। कई वर्षोंके निरन्तर प्रयत्नके बाद वह घर लौटे। मालूम नहीं उन्हें अभीप्सित मिला अथवा नहीं, पर अमित इसी बीच १८ वर्षका हो चुका था। यात्रा, और वह भी अनवरत यात्राके बीच पितासे जो कुछ सीखनेको मिला वही उसकी शिक्षा रही पर वह हिन्दी और अंग्रेजी दोनों ही अच्छी बोलने लगा था। इससे लोग यह नहीं जान पाते थे कि उसकी योग्यता क्या है। घर जाकर पिताने उसे दर्शनके अध्ययनके लिए जर्मनी भेजनेका निश्चय किया और वह आज्ञा मानकर यहाँ चला आया।

पिताके इस प्रस्तावको सुनकर बहुतोंने कानाफूसी की थी। लोगों का ख्याल था कि अमितको बाहर भेजकर देवेन्द्र ठाकुर दूसरा विवाह करना चाहते थे। स्वयं अमितको भी तो शंका हो गई थी। पर यह सब कुछ नहीं हुआ। अमितके स्वदेश छोड़ते ही देवेन्द्र ठाकुर पुष्कल चले गये और वहीं सन्यास धारण किया। सन्यासी जीवनमें उनका एकमात्र धर्म हुआ, भारतीय गणितमें शोध कार्य। अपने जमानेके वे गणितके अच्छे विद्यार्थी थे। गणितका दार्शनिक विवेचन ही अब उनके जीवनका योग था, वही उनका अवलम्ब और प्रकाश था। उसीके सहारे वह अपना अभिनय समाप्त करना चाहते थे। उसकी गुत्थियोंको सुलझानेमें महिमामयीके आदेशों का पालन भी होता था, और अमितको यात्रावधिमें उन्होंने जो शिक्षा दी थी उसकी सफलता-असफलताकी दुश्चिंतासे मुक्ति भी मिलती थी। अमितको बाहर भेजकर उन्होंने बहुधा ही सोचा था कि उसकी बाल्यावस्थासे अठारह वर्षकी उम्र तक मैंने उसे विद्या-

लयका मुँह नहीं देखने दिया। विराट् पुरुष और अद्वैतके दार्शनिक विवेचनसे कोमल हृदय बालकका क्या हुआ होगा ? यह देखनेके लिए उसे कुछ दिन अपने पास भी तो नहीं रखा। घर पहुँचते ही उसे दूर देशमें पितृहीन कर दिया।

पर, अब वह इससे भी निश्चिन्त हैं। अमितके पत्रोंने उन्हें निश्चिन्त कर दिया था, अथवा उनकी गणितकी गुत्थियोंने, इसे अभी नहीं कहा जा सकता। अमितको विदेश गये आज पूरे सात वर्ष हो चुके हैं। देवेन्द्र ठाकुर भी ६० पार कर चुके हैं। उनकी इच्छा होती है कि अमित अब वापस आ जाय और वह अपनी बहूको महिमामयीकी थाती सौंपकर शून्यकी पूर्णता प्राप्त करें। इसीलिये उन्होंने अमितको शीघ्र वापस आनेके लिए लिखा था, पर अमितका उत्तर आया कि वह कुछ दिन और रुकना चाहता है। उसने सृष्टि क्रमका अध्ययन पूरा किया है और अब सौंदर्यवादका विशेष अध्ययन कर रहा है। फिर भी उसने लिखा था कि पिताकी आज्ञा मानकर वह शीघ्र ही विभिन्न देशोंके प्राकृतिक स्थलोंका निरीक्षण करता हुआ, स्वदेश लौटेगा।

जब अमितके इस पत्रके बाद भी तीन वर्ष बीत गये और देवेन्द्र ठाकुरकी रायपुरके प्राचीर-वेष्टित प्रासादमें पुत्र और वधूके साथ प्रवेश करनेकी अभिलाषा पूरी न हुई तो उन्होंने अमितके पास स्वयं चलकर कुछ दिन रहनेकी सोची। अमित जिस प्रकार एक स्थानसे दूसरे स्थानपर घूम रहा था उससे उसके पत्रोंको यथासमय पाकर उनका उत्तर देना और प्राप्त करना बड़ा कठिन हो गया था। पर, वह कहीं घूमे, थोड़े दिनों बाद एक बार जर्मनी

अवश्य जाता था और अनिताके पास ही रुकता था। यही सोच-कर देवेन्द्र ठाकुरने इस बार अनिताको पत्र लिखा और उससे आग्रह किया कि अमित जब भी लौटे, तो उसे कुछ दिनके लिए अनिता रोक ले और देवेन्द्रको केबुलसे समाचार दे ताकि वह शीघ्र वहाँ पहुँच सकें।

अमित इन दिनों कैलिफोर्नियाँमें माउंट विलसन और पालो-मारकी वेधशालामें आकाश-दर्शन कर रहा था। अमितासे उसकी भेंट सर्वप्रथम जर्मनीमें ही हुई थी। वह भौतिक विज्ञानके विशेष अध्ययनके लिए वहाँ आई थी पर अमितके दार्शनिक प्रभावने उसे आज तक जर्मनीमें रोक रखा था। लेकिन, अब वह भी भारत लौटना चाहती थी। इधर उसे अमितकी दार्शनिकता और सौन्दर्य-वाद दोनोंसे चिढ़ हो गई थी। वही अनिता जो कभी अमितसे जगत्की उत्पत्ति और लय सम्बन्धी विवेचनोंको अपलक सुनती थी, इन दिनों अमितके आकर्षणसे घबरा उठती है। वह न तो अपनेको समझ पा रही है और न अमितको। फिर वह सृष्टिक्रम क्या सोचे? क्या समझे? अमितको अनितामें रस मिलता है अथवा नहीं कहना कठिन था। वह आकाशगंगामें, तेज बहती हुई नदीकी कल-कलमें, ऊँचे पहाड़ोंकी नीरवतामें, जलती हुई चट्टानोंकी आँचमें, बर्फकी परतोंमें, जंगलोंमें बहती हुई हवाके पंखोंपर, कारखानोंमें काम करनेवाले कुलियोंके श्रमित और क्लान्त शरीरसे निकलती हुई दुर्गन्धपूर्ण पसीनेकी बूँदोंमें, एक साथ और समान रूपसे, समाता है, मुग्ध होता है और अपनेको विकीर्ण करता है। जगत्के कण-कणमें सौन्दर्य और सार्थकताका अनुभव करता हुआ भी

अमित ऐसा है कि सहसा घबरा जाया करता है, और उसे मानव-कृत स्वभाव और परम्पराएँ पिशाचके समान सताने लगती हैं। इस आकर्षण-विकर्षणके बीच उसका जीवन दूभर हो गया था। कभी वह सोचता कि इस एकाकी जीवनको विश्वके कोलाहलमें समाहित कर देने पर ही शान्ति मिल सकेगी और कभी उसे गिरिकंदराओं की निपट नीरवतामें भी कानोंको फाड़ देनेवाला स्वर सुनाई पड़ता था। अनिता उसकी इस हालतको देखती और समझती थी। पर, वह कर ही क्या सकती थी? रोगीका रोग असाध्य हो जाय तो उसे विष देना भी उसका सफल उपचार हो सकता है, पर, यह संसार ऐसा है कि रोगी की यातना की अंतिम घड़ी तक उसको छटपटाते देखना चाहता है। अनिताने भी सब कुछ देख सुनकर मौन दर्शनका रूप धारण कर लिया था। जर्मनीमें उसका अपना कोई न होने पर भी उसका छोटा-सा कमरा ही सर्वस्व था। उसमें उसका असीम विश्व सिमटा हुआ था। अध्ययन समाप्त कर वह घर जा सकती थी। उसके भाई बम्बईके एक बड़े कारखानेके मैनेजर थे। उनका बार-बार आग्रह था कि अनिता उन्हींके पास आकर रहे। सयानी अनिताको माता-पिताका अभाव बिलकुल नहीं खटकेगा इसका आश्वासन न दे सकने पर भी उन्हें विश्वास था कि अनिताको वह किसी भी प्रकार दुःखी होनेका कारण न उपस्थित होने देंगे। सहोदर भाईका इतना अधिकार होने पर भी अनिता उनके आग्रहको टाले ही जा रही थी, और उसने अब अंतिम रूपसे उन्हें लिख दिया कि वह जीवनके शेष दिन

जर्मनीमें ही अध्यापन करके बितायेगी। उसका भारत आना सम्भव न होगा।

ऐसा लिखकर अनिता निश्चिन्त हो गई हो, यह बात भी नहीं थी। उसे अध्यापन-कार्यमें जीवनका सब कुछ प्राप्त था, यह कहना अपनेको भ्रममें डालना होगा। पर वह प्रत्यक्षतः सुखी जान पड़ती। उसका अभ्यंतर करुण था, पर बाह्य जगत् की जगमगाहटको वह अपने ऊपर प्रतिबिम्बित होनेसे रोकती नहीं थी। जीवनका यह द्वैत भाव उसे अपनापन बनाये रखनेमें मदद दे रहा था। यही उसका व्यक्तित्व था, उसकी शक्ति थी, और शायद उसकी पराजय भी। पर वह अडिग थी, अपने निश्चय पर। जीवन की सार्थकता की खोजमें उसकी आँखें चंचल थीं पर अध्ययन की गरिमासे मन उसका शान्त था। गति उसकी संयत थी। ऐसी अवस्थामें जब उसे देवेन्द्र ठाकुरका पत्र मिला तो वह विचलित न हुई। सोचने लगी कि वह इसका क्या उत्तर दें। अमितके आने न आनेका वह कैसे निश्चय करे। अमित यदि आयेगा तो अपने मनसे ही, और न आयेगा तो भी अपने ही मनसे। शायद वह नहीं ही आयेगा। आज वर्ष भरसे ऊपर हो गये उसने पत्र भी न लिखा। जो कुछ उसे उसके बारेमें मालूम है वह वेधशाला के अधिकारियोंसे ही मालूम हो सका है। वह भी क्या सोचते होंगे कि अमितके बारेमें कोई लड़की सीधे उससे पत्रव्यवहार न करके दूसरोंसे उसके बारे में जानना चाहती है। पर इससे क्या? जब उनसे साक्षात् होना ही नहीं तो फिर जो चाहे सोचें लेकिन तुरन्त उसे ख्याल आता कि कहीं इससे अमितके

व्यक्तित्व पर तो कोई आँच नहीं आती होगी ? इस उधेड़-बुनमें घण्टों समय बीत जाता और वह अकर्मण्य-सी पड़ी रहती। देवेन्द्र ठाकुरके पत्रका उत्तर भी न दे सकी वह, और महीनों बीत गये। वह निराश हो चुकी थी कि अमित आयेगा। लेकिन अमितसे उसका कोई सम्बन्ध भी तो नहीं। अध्ययन-अध्यापनके जीवनमें भी, और यों भी, सैकड़ों व्यक्तियोंसे, स्त्री-पुरुषोंसे, भेंट होती है पर क्या इसी कारण सब, सबमें रुचि लेने लगते हैं ? लेकिन क्या वह अमितको भी इन्हीं 'सब'की श्रेणीमें रख दे ? क्या वह भी साधारण मनुष्य है ? क्या उसे भी वैसी ही आँखें हैं जैसी साधारण मनुष्यों की होती हैं ? क्या उसका मन भी सामान्य कोटिका ही है ? वह अपने आप ही उत्तर दे लेती नहीं, कभी नहीं। फिर स्फुट स्वरमें कहती जिन्दगी की बरसातका मटमैला पानी और कीचड़ अमितके मन और आँखोंको गन्दा नहीं कर सका है और नही कर सकेगा।

अनिता कालेजसे पढ़ाकर आज जब लौटी तो देखा उसके कमरेके सामने बरामदेमें एक ऋषितुल्य व्यक्ति खड़ा है, उसे यह समझते देर न लगी कि उसका उत्तर न जाने पर यह देवेन्द्र ठाकुर ही हैं, जो सहसा यहाँ आ पहुँचे हैं। वह तेज़ीसे ऊपर गई और देवेन्द्र ठाकुरके पैर छुये। जर्मनीके इस अनजाने वातावरणमें भी इन दो व्यक्तियों की परिधिमें सम्पूर्ण भारत आ बसा। सहज स्नेहसे आशीर्वाद देते हुए देवेन्द्र ठाकुरने उसे अंक लगा लिया और दोनों ही ऐसे कुशल पूछने लगे जैसे दोनों ही एक दूसरेसे, जन्म-जन्मान्तरके सम्बन्धसे, परिचित हों।

भोजनोपरान्त जब देवेन्द्र ठाकुर लेटे, तो उन्होंने साहस बटोरकर पूछा—"अनिता ! क्या तुम्हें भी अमितका हाल-चाल नहीं मालूम ?"

"नहीं पिताजी ! उनके पत्र तो वर्ष भरसे ऊपर हो गया आये ही नहीं। उनके बारेमें तो जो कुछ मैं जानती हूँ वह केवल इतना ही कि उनका जगत् उनमें ही है और वह उसे अपनेमें समेटकर भी उसे बाहरसे देखते हैं और मुग्ध होते रहते हैं। मुझे तो पता ही नहीं चलता कि उन्हें कौन-सी शिक्षा मिली है और किसने उन्हें यह उपेक्षा सिखलाई है ? फिर आश्चर्य और होता है कि इतनी उपेक्षा लेकर भी वे अमुदित नहीं होते। जिससे मिलते हैं ऐसे प्रसन्न-वदन मानो अपनेसे ही मिल रहे हों। शायद यही कारण है कि जहाँ जाते हैं, दुनिया उनकी हो जाती है। इतना ही कह सकती हूँ कि वह सुखी और स्वस्थ हैं; पर कब कहाँ रहेंगे इसका निश्चय उनका विधि भी नहीं कर सकता। स्यात् उनका कोई विधाता है भी नहीं।"

देवेन्द्र "हूं" कहकर चुप हो गये। अनिता उनके चेहरेपर पड़ते हुए प्रकाशमें यह स्पष्ट देख सकती थी कि उसकी बातोंको सुनकर वह गर्व और सुखका अनुभव कर रहे थे, पर साथ ही किसी चिन्तासे आकुल भी थे। बहुत देर चुप रहनेके बाद वह एकाएक बोले—

"बहू, क्या तू मेरे साथ स्वदेश चल सकेगी ?"

अनिता सिहर उठी। अमितके साथ उसका ऐसा कोई भी तो सम्बन्ध नहीं कि वह अपनेको उसकी स्त्री कहलानेकी अधि-

कारिणी माने। अमितके साथ रहनेपर उसे वैसे ही उसके प्यारकी छाँह मिली थी जैसे किसीको भी मिल सकती थी। हाँ, यह अवश्य है कि उसने अमितसे एक बार एक प्रश्न पूछा था। पर यह कैसे कहा जाय कि उसके प्रश्नका अर्थ क्या था? क्या वह उसके विचारोंकी तल्लीनतासे घबराकर यह प्रश्न नहीं कर बैठी थी? और यदि हाँ, तो उसका उत्तर स्पष्ट था। लेकिन उसके बाद ही उसने जो कुछ कहा उसका क्या अर्थ था? क्या उसने उसका कोई दूसरा अर्थ तो नहीं लिया था? यदि हाँ, तो यह इस सारी उपेक्षाको क्या माने? वह एकदम घबरा उठी। निश्चय-अनिश्चय की आँधीमें उड़ी जा रही थी कि देवेन्द्र ठाकुरने फिर कहा—

"मैं समझता हूँ हम लोग कल ही यहाँसे चले चलें।"

अनिता शान्त हो गई। उसे लगा अमित और उसके बीचके प्रश्नोत्तरोंका उस समय चाहे जो भी अर्थ रहा हो इस समय उनका निश्चय देवेन्द्र ठाकुरने कर दिया। अब वह आगे कुछ भी नहीं सोच सकती।

उसने धीरेसे कहा—चलिए।

● ●

• • दंगल

बैजू द्वार पर खाट डाले पड़ा था। गाँवका जवान, अलमस्त और बावरा समझा जाता था। उसे किसीकी फिकर नहीं थी। अपनी भी नहीं? यह भी सच है। अपनी ही चिन्ता करने वाले आदमीमें स्वार्थके साथ-साथ कायरता भी आ जाती है। वह निस्पृह था। कभी कोई काम यदि कर देता तो वह गाँवके पशुओं की चरवाही। अथवा वह किसी न किसीके यहाँ, जहाँ चार आदमी बैठे होते, जा बैठता, उनकी बातोंको ध्यानपूर्वक सुनता। अपनी राय न देता। एकाएक लोग उसे देखते कि वह मुसकराता हुआ चला जा रहा है, उसकी समझकी थाह किसीको न थी। इसीलिए वह गाँवकी दृष्टिमें बावरा था। उसके घर दो भैंसें लगती थीं। प्राचीका सुहाग भर उठनेके पूर्व ही वह अपनी भैंसें दुह लेता था। दूध दुहनेके मामलेमें रंच भी हस्तक्षेप किसीका सह्य न था उसे। प्रतिदिन दही, मलाई छोड़कर, कुल पाँच सेर दूध गाढ़ा कर, पी जाना उसका काम था। इतना खा-पी जाने के लिए वह घरवालोंका कृतज्ञ भी न था। इतनेको वह अपनी जवानीका अधिकार मानता। भरे पेटको किसकी परवाह। इसीसे लोग उसे अलमस्त कहते।

अपनी सुघर लाठी छातीसे चिपकाये और उसके निचले सिरेसे दोनों पैर लपेटे वह पड़ा था। जिस खाटमें वह पड़ा था उसकी सुतली इतनी ढीली पड़ गई थी कि वह नीचे लटक गया

था। ऐसी ही मुद्रामें वह आकाशदीपोंको निहार रहा था। वास्तव में ये कितने विरल हो जाते हैं। गलेमें लिपटे हुए लंगोटका पुछल्ला खाटके नीचे सर्पाकार लटक रहा था।

एक कन्धेपर कुदाल, दूसरेपर लंगोट और हाथमें लाठी लिये धन्नी आ खड़ा हुआ। धन्नी जब चलता उसके पैरोंकी नसें चटचट बोलती थीं। उसके शरीरकी गठन दूसरोंका ध्यान बरबस खींच लेनेके लिए आकुल रहती। वह निकल जाय और लोग उसे न देखें, तो ऐसे आँखके अन्धों और कानके ऊँचोंसे बुरा मान जाता। वह खड़ा है। मालूम नहीं क्यों बैजूको इसका भान न हुआ।

"दादा, आज गलेकी लंगोट गले ही में रह जायगी।"—धन्नीने कदम रखा उसकी विचारधारामें।

"न भाई, तुम्हारी ही तो राह थी।"

बैजू उठ खड़ा हुआ।

बैजू और धन्नू दोनोंने ही लाठियाँ कन्धों पर डाल लीं। दोनों ही जवान गज-गजकी छाती लिये चले जा रहे थे। बागके उस पार कुआँ था। उसीपर अखाड़ा।

बोलचाल तो हो रही है।

धन्नी आहट पा बोल उठा—

"खरगहाँका दल्लू आने वाला है। आज आ जाता तो बैजू की साध पूरी हो जाती।" बैजू मस्त हो उठा—

"तुम भी दादा कभी कभी···"

"कभी कभी क्या। आ जाय तो आज ही देख लो।"

बैजू इस समय अपने रोबमें था।

"और नहीं तो क्या। दल्लू और तुम्हारी जोड़ी नहीं। उसमें और तुम्हारेमें बहुत अन्तर है। वह पछाहीं है। रोज आध सेर बादाम पीता है। घरका अकेला ही समझो। यहाँ आकर बस गया खरगहाँमें। बड़ा भाई बम्बईमें कमा रहा है। अबकी तपनमें पत्तियाँ तक सूख गईं। थनका दूध थनमें ही गायब हो गया। कहनेको दादा, बस काश्तकार मजेमें हैं, पर उनकी हालत कहने वाले क्या जानें। दोनों जून सूखी रोटियाँ भी मुहाल होनेको आईं। भला, हमलोग क्या जोर करेंगे और क्या जोड़ तै होगी!"

"ठीक है। पर जोर और जोड़ तो बैजूका है। दूसरोंका नहीं—" यह कहकर बैजू चुप होगया।

बैजू और धन्नी चार पग भी आगे न गये होंगे कि धनेसरा रोती, बिलखती, दौड़ती आती दिखायी दी।

"दादा, यह तो कलपू की माँ जान पड़ती है।"

"हाँ, मालूम तो पड़ती है।"

बैजू चलता रहा।

पर धन्नी की चाल ढीली पड़ गई थी। धनेसराके लड़केको दीपा, बरन, सब मिलकर मार रहे हैं। यह उसके विलापमें गालियों की आती हुई बौछारसे स्पष्ट हो रहा था। इन दोनों की मदद लेने वह दौड़ी आ रही है। ये सब रुक क्यों नहीं जाते? उसका उलाहना था। समयको कोसती थी। अपने भाग्यको फूटी हाँडीसे भी बुरा बता रही थी। गाँववालोंको जीवित ही मृत

बताते न हिचकती थी। वह समीप आ गई और उसने बैजूका हाथ पकड़ लिया—

"भैया, तुम न बचाओगे तो सब कलपूको मार डालेंगे। सब मार रहे हैं, वह अकेला है। अरे बाप अब मैं किसके पास जाऊँ ?"

"कौन मार रहा है ? मार ही न रहे हैं, कि और कुछ ? मारनेसे क्या होता है ? जाओ कलपूको अखाड़े पर भेज दो" बैजू चलने लगा।

दरिद्रके मनोरथके समान धनेसरा की आशा टूट गई। वह लौट पड़ी दूसरी ओर।

"दादा, जरा देख लो कहीं लाठी न चल जाय।"

पर बैजू न रुका। धन्नीको इस समय भी उसका यह लापरवाह रुख अच्छा न लगा। परन्तु उसकी हिम्मत ही न पड़ी कि वह उसे अकेला ही छोड़ मुड़ पड़े।

"क्या खून कराना चाहते हो ?" बैजू अत्यन्त ही क्रुद्ध था।

बात भी सच थी। यदि बैजू इस समय कलपूकी मददको लौट पड़ता तो बुरी बन जाती। ऐसे समय उसका न जाना ही अच्छा था। दूसरे न जानें, पर बैजू अपना स्वभाव और अपनी शक्ति पहचानता था। मार खानेवाला कलपू अकेला और मारनेवाले अधिक। बैजूका न्याय यह नहीं कहता। भले ही कलपू अपराधी हो, पर उसका अकेलापन बैजूको अपने पक्षमें खींच लेनेके लिए काफी था। यद्यपि बैजू उस ओरसे अन्यमनस्क हो अखाड़ेकी ओर चला गया, पर उसका क्रोध हिलोरें ले रहा था। अखाड़ेपर पहुँचते

ही बैजूकी दृष्टि दल्लूके लिए आतुर हो उठी। अखाड़ा खुदा। लोगोंकी तालें ठुकीं। पर बैजू अभी बाहर बैठा पैरकी नसोंमें मिट्टी मल रहा था। कभी गरदन, कभी बाहें मिट्टीसे मल देता पर उसका दिल दल्लूको न पा बैठ गया था। अपनी विजय-पताका कैसे फहरावे। लोग दल्लूकी पराजय, पराजयपर ही मानेंगे। वह दाँतपर दाँत बैठाये मन मसोस कर रह गया।

"अरे भाई बैजूसिंह, एक पकड़ तो हो जाने दो", होरी कहता हुआ हँस उठा।

"दल्लूसे कह देना कि पुरुषका जोर हो तो नागपंचमी न टले। चाहे यहाँ चाहे खरगहाँमें"—बैजूसिंह अखाड़ेमें बिना उतरे ही, धोती लपेटकर लौट पड़ा। किसीकी समझमें कुछ न आया कि यह कैसा सवाल-जवाब था?

"क्यों धन्नी, आज बैजूको क्या हो गया?—" होरीने धीरेसे थाह ली।

"कुछ नहीं, दल्लूसे एक दिन बद गई थी। आज आनेवाला था। बैजू दादा बड़ी मस्तीमें आ रहे थे कि कलपूकी माँने सारा रंग उखाड़ दिया। उधरसे क्रोध तो था ही, इधर दल्लूको न पा और सुस्त पड़ गये। घर पहुँचते-पहुँचते फिर ठीक हो जायेंगे। भला इनकी मस्ती कहाँ जायगी। वह तो उधार जानेकी भी नहीं।"

"तो भला दल्लूसे लड़नेकी इन्हें क्या सूझी? उसी भैंसके दूधपर?" होरीने व्यंग्य किया—"खाली दूध···"

धन्नी आगे नहीं सुनना चाहता था—"यह मत कहो होरी।

बैजू दादाका इक्कीसवाँ चल रहा है, और अभी तक मसें नहीं भींगी। दल्लूसे जोर पर तो मुझे भी शक था पर कलेजेको कोई नहीं जानता।" इतना कह धन्नी चल दिया। कहीं बात बढ़ न जाय। होरी भीतर ही भीतर बैजूसे जलता था। यही कारण था कि दल्लूको न देखकर, बैजूने भी होरीको ही ललकार सुना दी। जानता था होरी दल्लूको निश्चय ही उभाड़ लायेगा।

... ...

धनेसराका इकलौता लड़का कलपू अभी भी उसकी आँखोंमें लड़का ही था। जबतक वह जीती रहेगी उसे लड़का ही समझती रहेगी। नीच कुल हो अथवा उच्च, भारतीय मातृत्व की विशालता में मानस बुद्धिके अन्दर आनेवाली लम्बीसे लम्बी उम्र बावन-पगमें पृथ्वीके समान ही छोटी होती है। सबेरे ही जब कलपूको मालूम हुआ कि उसका खेत उठ आया है वह सनई छींटने चला गया। दिन चढ़ जाने पर धनेसरा पड़ोसिनके घर आग लाने गई। वहाँसे लौटकर वह चिन्तित है। कभी घरमें आती है, कभी खेतसे आने वाले मार्गको सशंक दृष्टिसे देखती। सामने की ओसारमें जब भी आदमियों की बोली सुनती है तो किवाड़ की ओट खड़ी होकर सुननेका प्रयास करती है। अभी बारह भी न बजे, पर उसके आतुर मस्तिष्कमें बेला टलती हुई जान पड़ रही है।

कलपू ज्यों ही दोपहरको घर आया, उसकी माँने उससे कहा—"दीपा और बरन दोनों ही, उस खेतमें सनई छींटनेके कारण, तुम्हारे ऊपर गर्मा रहे थे।"

"खेत उनके बापका नहीं है। साझेका था जरूर, पर रेहन

वाला तो उन्होंने ले ही लिया। अब इस पर उनका क्या हक ?"
—अपनी माँको समझाता हुआ वह खाने बैठ गया। भोजन समाप्त कर वह दूसरे गाँवमें धानका बीज लाने चल दिया।

यद्यपि दीपा और बरन दोनोंने ही कलपूको जाते देखा, पर जब तक वह आँखके सामने और पुकारके भीतर था कुछ भी न बोले। इसके दो कारण थे। एक तो शोर सुनकर कलपू लौट पड़ता और बातें साफ हो जातीं। दो ही चार बातोंमें झूठ सचकी गुंजाइश नहीं होती। इसीलिए पुरुषके परोक्षमें स्त्री की अनर्गलता का सहारा लेकर अपना पक्ष मजबूत करना इन्हें आवश्यक था। दूसरी बात यह थी कि उस समय कलपूके मददगार भी इधर ही उधर थे, सम्भवतः वे भी आ जाते। परन्तु थोड़ी ही देर बाद जब धनेसरा कूएँ पर पानी लेने आई तो दीपाने उसे सुनाते हुए बरनसे कहा—"बरन, तुम आज सबेरे से ही इधर-उधरमें रह गये। कल ही मैंने देखा था। आज तो सनई वाला खेत उठ आया होगा। उसे सबेरे ही छींट देना था। अभी भी समय है तीसरे पहर जाकर छींट दो।"

इतना कह दीपा तो अपनेको व्यस्त-सा प्रकट करता हुआ एक ओर हट गया, पर स्त्री तो स्त्री ही है। उसके कान बजते हैं। धनेसरा की ऊँगलियाँ, उसकी वक्रोक्ति, उसका अक्षय भंडार, ये सब मिलकर किस प्रकार आकर्षक, आपत्तिजनक और आर्ष हो रहे थे, वह वहाँके उपस्थित लोग ही समझ सकते थे।

"अच्छा तो बस ! अब बहुत हो गया। मैं स्त्रीके मुँह नहीं लगना चाहता। इतना ताव है तो कलपूको भेज दो। अपना

निपटा ले"—कहता हुआ दीपा पुनः प्रकट हुआ। धनेसरापर तेज-मिजाज, झूठी, बेईमान, इत्यादि आरोप व्यंजनासे लगाता हुआ, बरनको डाँटने लगा। ऐसा कर वह वहाँ खड़े लोगोंमें अपना पक्ष न्यायोचित ठहराना चाहता था।

धनेसराके क्रोधको भड़काकर बरनको डाँटते हुए दीपाने तो अपना रास्ता नापा। इधर धनेसराका क्रोध बलवान हुआ। जब तक उसके गलेमें ताकत थी वह अपना स्त्रीत्व प्रदर्शित करती रही। गलेको अशक्त होते देख आँखोंने जोर मारा। क्रोधने भी अपना रास्ता बदला और मुँहके बजाय आँखोंसे धाराके रूपमें बह निकला। लेकिन गलेने भी एकदम साथ नहीं छोड़ दिया था। वह बहुत देर तक अपनी निस्सहायताकी गाथा कहती रही।

सायंकाल जब कलपू घर लौटा तो धनेसराने पुनः दोपहरको हुए काण्डका सफल अभिनय किया। अभी इधर धनेसरा रिपोर्ट दे ही रही थी कि कलपूका हरवाहा दौड़ा हुआ आ पहुँचा। हांफते-हांफते ही उसने कहा—"भइया बरनसिंह और दीपा चाचाने तुम्हारा खेत उलट दिया।"

"खेत उलट दिया?"

"हाँ, अभी तो हेंगा चल ही रहा है।"

कोई विश्वास करे या न करे, गाँवमें खेत उलट जाना एक बड़ी बात होती है। लोगोंको बहस और बात करनेके लिए अच्छा मसाला होता है। इस प्रकारकी घटनाओंका वहाँ उतना ही महत्त्व है जितना हमारे आपके लिए इटलीके आत्मसमर्पणके बाद मुसोलिनी का पुनः शासक होना। यहाँ भी इस समय यदि दोनों पक्ष एक ही

समान प्रबल होते तो न जाने क्या होता, कितने सर फूटते, कितनी लाठियाँ तनतीं, पर कलपूके अकेले पड़ जानेके कारण केवल उसीने मार खाई। वह मार भी धौल-धप्पड़ तक ही सीमित रह गई। इससे अधिक उस दिन कुछ न हुआ, केवल धनेसराकी गुहार बैजूके कान तक पड़ी।

... ...

बैजू जब अखाड़ेसे लौटा तो कलपू और दीपाकी मारपीट समाप्त हो चुकी थी। गाँवके सन्नाटेसे ही यह सहज सत्य प्रकाशित हो रहा था। बैजू भी किसीकी आहट न पा सीधे घर ही गया। और खाना समाप्त कर धन्नीके द्वार पर आ डटा, धन्नी कण्डेकी आग लिये बाहर निकल ही रहा था।

"जगाओ तुम्हीं पहले—"बैजूने धन्नीके चिलम बढ़ाने पर कहा।

"क्यों दादा, आज तुम इतने गुस्सेमें क्यों हो?—" धन्नीने दम मारते हुए पूछा।

"कलसे सुन रहा हूँ गाँवमें मर्दोंका जमाव हो रहा है। होरी दीपाके दलके सरगना हुए हैं। होरीके दीपाका साथ देनेके कारण लोगोंका यह ख्याल हो रहा है कि कोई आदमी ही न मिलेगा। कल बद गई है। कलपूका खेत भी उलट लिया और फौजदारीकी धमकी भी दी।

"कहाँ? कौन कह रहा था तुमसे?—"धन्नीने साश्चर्य पूछा।

"खाने बैठे, तो माँ ने सारा हाल कहा।"

"लेकिन इन दोनोंको यह क्या सूझी? कलपूको मारा भी

और अब फिर मारनेकी तैयारी ? खेत तुम्हारा है तो पंचायतसे, अदालतसे अपना निपटा लो। भइया, इसमें तो दीपाकी सरासर बेईमानी है।"

"अब तो कल ही देखा जायगा कि कलूपर कौन हाथ उठाता है—" धन्नी समझ गया कि बैजूको आज नहीं रोका जा सकता। अभी अखाड़ेपर होरीसे उलझ ही चुके थे, आज दीपाका पल्ला पकड़ते देख और भी क्रोध भड़का है। यदि मार हुई तो बैजूका निशाना होरी ही बनेगा।

इधर होरीके मनमें कुछ दूसरी ही थी। वह कलपू और दीपाके मामलेमें फौजदारी कराकर बैजूको फँसाना चाहता था। अखाड़ेका बल फौजदारीमें सीधा करना चाहता था। कुश्तीकी पेंच लाठीसे काटना चाहता था। बैजूका दाँव कचहरीमें मारना चाहता था। मुक्त वातावरणमें, लंगोट कस लेनेपर, ईर्ष्या मदसे हीन केवल बलाबलके मैदानमें होरीसे बैजू बराबर बीस रहा। प्रयत्न करनेपर भी होरी बैजूका कंधा ज़मीनसे न लगा सका। बराबर खम खाते रहनेके कारण पराजित हृदय, प्रतिकारकी भावनासे प्रेरित हो, प्रतिशोध लेना चाहता था। इसीलिए मौका देख चूकना उसने अच्छा न समझा। दीपा और बरनको आगे किया। उनके संगी-साथियोंको दायें बायें, और आप डोर लेकर पीछे खड़ा हो गया। कलपूको प्रतिपक्षी बना, बैजूको विरोध पक्षमें लानेका उसका प्रयास सफल रहा।

होरीके भुलावेमें रात ही लाठियाँ सजग हो उठी थीं। लोगोंमें यह भी भ्रम था कि कलपूका साथ दूसरे गाँववाले देंगे। इसीलिए

दूसरे गाँवके सामने अपने गाँवकी नाक रखनेमें ग्रामीण सुजनता की नाक पुंछी जा रही थी। स्त्रियोंमें चर्चा गर्म थी। अभी उन्हें यह नहीं सूझ रहा था कि यदि कल लाठी चली तो चोट खाने-वालोंमें उनके भी घरके प्राणी हो सकते हैं। अभी तो वे छातीपर हाथ मार-मारकर नकलीं भय प्रदर्शनके बहाने प्रचार कार्यमें लगी थीं। कुछ कलपूको ही गालियाँ दे रही थीं कि उसीके कारण यह सब हो रहा था। कुछ कलपूका पक्ष लेकर दीपाको, जिसकी लाठी उसकी भैंसके न्यायसे, दोषी सिद्ध कर रही थीं। यह किसीको क्या मालूम कि ऊँट किस करवट बैठेगा।

यह क्या स्वाभाविक है कि बैजूका ध्यान किसीको न आया हो! आखिर वह भी तो उसी गाँवमें रहता है। परन्तु बैजू तो बावरा और अलमस्त समझा जाता था न। उससे इन सब बातोंसे मतलब ही क्या? वह किसीकी हानि नहीं कर सकता, यह सब जानते थे। यही कारण था कि उसकी माँ भी निश्चिन्त थी। यदि कोई कुछ जानता था तो वह होरी और धन्नी। होरी इस-लिए कि उसने गोटी बिछायी थी और धन्नी इसलिए कि वह उसका अभिन्न था।

चिलम पीकर जब बैजू उठा तो धन्नीने कहा—

"दादा, तुम क्यों इस बीचमें पड़ते हो? जब दोनोंने बदी है तो अपना बल भी आँक लिया होगा। अपना समझ लेंगे। लोहार का बैल लेकर कोंहार क्यों परेशान हो? मैं तो समझता हूँ, तुम्हारा न बोलना ही ठीक होगा।"

"हुं"–कह कर बैजू मुसकरा उठा।

"नहीं, इसे सोच लो। तुम्हारा शरीर चोट सहनेके लिए नहीं है।"—धन्नीने पुनः कहा। अबकी धन्नीकी बात ठीक जगह पर बैठी। एक कसरती उभड़ते हुए पहलवानको अपने शरीरका बड़ा मोह होता है। उसमें कैद बलको वह एक ही स्थल पर मुक्त करना चाहता है; अन्यथा उसमें एक खुरच भी नहीं लगने देना चाहता। क्षण भरके लिए तो बैजू अवश्य ढीला पड़ गया।

"भाई धन्नी, तुम्हारा कहना बहुत ठीक है। पर यहाँ कलपू की बात नहीं। इसको यदि इसी प्रकार पनपने दिया गया तो यह दूसरोंके मत्थे भी आयेगी। तब गाँवमें यह एक ऐसा भेड़िया पैदा हो जायगा, जो समय-समय पर अकेलोंको सतायेगा। गाँवकी आब ही जाती रहेगी। हमें केवल अपना ही नहीं देखना चाहिए। आज कलपूको अकेला पाकर कोई मारे यह कहाँका न्याय है?"

कोई कहे या न कहे। तुम सबेरे ही तैयार रहना। अभी तो रात बाक़ी ही है। सबेरे क्या होगा बैजू नहीं जानता! इस समय तो बैजू किसीकी ओर नहीं। उसे जो अच्छा लगा उसने कह दिया। कल जो उसे रुचेगा करेगा—कहता हुआ बैजू घरकी ओर चल दिया। उसकी कजलीका स्वर धन्नी सुनता रहा।

कलपूके खेतकी दशा विचित्र थी। दूसरे दिन सबेरे ही बैजू और धन्नी सिरोंमें धोतियाँ बाँधे, हाथोंमें लाठी लिये, खेतकी डाँड़पर खड़े थे। बैजूका एक युवक साथी अहीर उसमें हल चला रहा था। उसकी भी लाठी मेड़के किनारे पड़ी थी। कलपू रातके तीन बजेसे ही दूसरे गाँवमें आदमी बुलाने चला

गया था। उसे नहीं मालूम कि सबेरा होते बैजू सिंह उसकी ओरसे खेतपर होंगे।

दीपाका दल जब तक खेत पर पहुँचे न पहुँचे तब तक कलपू भी पचीसों आदमी लेकर आ जुटा। इधरसे दीपा उधरसे कलपू। सामने आते ही देखा, तो खेत पर बैजू और धन्नो लाठियाँ लिये खड़े हैं, दोनों जवानोंकी बाहें फड़क रही थीं, चेहरा हँस रहा था। दीपाके साथी ठिठक गये। यह क्या, काश यह बात दोनों ही दलोंको पहले मालूम हुई होती। दीपाके ललकारने पर भी बैजू पर हाथ उठानेमें लोग हिचक रहे थे। हिम्मतके ताने-बाने अलग हो रहे थे। लोग लौट पड़े।

दीपाकी बेइज्जती हुई, अपनोंके सामने और दूसरे गाँववालोंके भी सामने। होरीको अपनी स्थिति दीपाके सामने अत्यन्त खराब होती दिखाई दी। अपना दाँव पट पड़ते देख वह जल उठा। उसने चट पैतरा बदल दिया। दीपासे कहा कि यदि बैजू न होता तो कलपूकी मजाल तुम्हारे सामने खड़े होनेकी न थी। दीपाको लेकर सीधा थाने पर पहुँच गया।

थानेदारने गिना, और वफादारीके साथ लिखा १०७ और ३२०।

... ...

आज नागपञ्चमी है। कवियोंने षट् ऋतु वर्णन किया है, पर वसन्तकी महिमा गाते नहीं अघाये। सम्भव है उन्होंने भारतीय राजाओं, अमीरों और नवाबोंके बागोंमें वसन्त देखा हो। कौन जाने अब भी वहाँ उसका आगमन होता हो। उसका प्रभाव,

जिसके वर्णनसे उनकी लेखनी आज तक तृप्त न हुई, बहुत सम्भव है कस्तूरी, केसरपगे व्यञ्जनोंके उपभोगियों तथा ताम्बूल-राग रंगे ओष्ठों और मदिर आँखोंमें मस्ती भरता हो, पर भारतीय किसान नहीं जानता इस वसन्तको। इस अनुभवसे हीन, अनभिज्ञ उसके चेहरे पर स्पष्ट हो जायगी उसकी शुष्कता, जब आप उसको इस वसन्तका परिचय करानेका प्रयास करेंगे। आपके कथनकी सार्थकता यदि वह मान सकता है, तो केवल अपने खेतोंमें फूली हुई पीली सरसोंसे। उसके अतिरिक्त वह राजा वसन्तको नहीं जानता। यद्यपि आम्र-मञ्जरियाँ बार-बार कहती हैं—'देखो वसन्त राजाने शिरमौर धारण किया है' पर वह अनसुनी कर जाता है। उसके मनमें उन दिनों उमंग आती ही नहीं। कार्यरत, सरल-चित्त कृषक के अन्तरमें इन दिनों प्रसन्नता नहीं नाचती।

उसका वसन्त तो आषाढ़के दिनों प्रतीच्यानुगामिना प्रथम मेघमालाओंको उमड़ते देख कर आता है। वर्षारानीको धानी पहने आते देखते ही वह स्वागतके लिए उठ खड़ा होता है। नव-नव आशाओंसे आपूरित उसका हृदय लेव लगे खेतोंमें लथपथ, आनन्द विभोर हो लौटता है। नवयुवक किसानोंके गालोंमें कृषक बालाएँ मिट्टी पोतकर अपने हृदयकी स्निग्धता प्रकट करती हैं। यह वर्षा ही उनका वास्तविक वसन्त है, जब एक बूढ़ा भी अपनेको किसी भी युवकसे अधिक युवा मानता है। जब उसके भी जर्जर शरीरमें मिट्टी लगती है और वह भी युवक-टोलियोंका सहारा ले, अखाड़ेकी खोज-खबर लेता है। प्रकृति-जन्य बरसाती कीट-पतंगोंके नादमें योग देती हुई युवतियाँ बारहमासी और कजलियाँ गाना प्रारम्भ

कर देती हैं। आनन्द और सरस जीवन लहराने लगता है चारों ओर। पृथ्वीके नीचे दबी हुई हरीतिमाके प्रस्फुटित होनेके पूर्व ही गाँव-गाँव चतुर्दिक्से रस-मग्न हो उठते हैं।

हाँ, तो यह नागपंचमी ही उनकी श्रीपंचमी होती है। इसी लिए आज इतना आनन्द उमड़ रहा है। तालके किनारे बागमें लम्बा चौड़ा अखाड़ा खुद गया। नये अखाड़ेकी सिन्नी चना गुड़ पानेके लिए बच्चे टससे मस नहीं हो रहे हैं। एक तंबोली अपनी छोटी-सी दूकान पर गन्देसे शीशेका ट्रेडमार्क लगाये बैठ गया है। बनारसी गावटी अंगोछे, फर्द और जोड़े पहलेसे ही मंगाये जा चुके हैं। गाँव वाले तो सबेरेसे ही ऊधम मचाये हुए हैं। यह हर साल-की नागपंचमी नहीं है। इसमें विशेषता है। इसीलिए इस साल अखाड़ेके चारों ओर बाँस गाड़कर रस्सियोंसे घेर दिया गया है। कुछ परिचायक भी निकल आये हैं जो, रह-रह कर स्वयं ही बच्चों को हटा-बढ़ाकर स्थिति ठीक कर रहे हैं। हर बूढ़े-बच्चेकी जबान पर दल्लू और बैजूका नाम है। इन दोनोंकी जोड़ छूटेगी यह जान कर दूर-दूरके गाँवसे लोग सिमट रहे हैं। बारह बजते-बजते हजारों की भीड़ हो गई। देखते-देखते कई पानकी दूकानें दिखाई देने लगीं। दो-तीन खोंचेवाले आ गये, जो इस गाँवकी नागपंचमीमें सर्वथा नई बात थी।

प्रत्येक व्यक्ति चाहता था कि बैजू कुश्ती मार ले। शरीरके पारखी अपना-अपना निश्चित मत प्रकट कर रहे थे। पर सन्देह भी कम नहीं फैला हुआ था। बात यह थी कि दल्लू पेशेवर पहलवान था। उसकी शोहरत बंध चुकी थी। उसके मुसलमान

और पछाहीं होनेका भी कुछ असर था। अन्यथा बैजूकी ताकतमें किसीको सन्देह नहीं होता। इस समय सभी भेद-भाव भूल कर बैजूके प्रति अपनत्वका अनुभव कर रहे थे। सभीकी शुभ कामनाएँ बैजूके लिए थीं। कोई बैजूका स्वभाव बखान रहा था, तो कोई उसके शरीरकी बनावटकी प्रशंसा कर रहा था। ज्यों-ज्यों समय बीत रहा था, न जाने क्यों बैजूकी जीतके प्रति लोग निश्चित मत स्थिर करते जा रहे थे। सभीकी उत्सुक दृष्टि बैजू और दल्लूको खोज रही थी। इस समय अनजानेमें ही बैजू सबके हृदयका लाल बन बैठा था।

दो बजते-बजते दल्लू तहमत डाले अपने साथियोंसे घिरा आ पहुँचा। एक बार देखते ही बन पड़ा। सभीकी तबियत खुश हो गई। मन ही मन सभी अपनेसे पूछ रहे थे बैजू कहाँ है? सभी बैजू और दल्लूको एक साथ आमने-सामने तुलनात्मक दृष्टिसे देखना चाहते थे!

होरी यद्यपि अपने ही गाँव वालोंकी हाँ में हाँ मिला रहा था, पर उसका हृदय तो कुछ दूसरा ही चाह रहा था। वह सशंक दृष्टिसे इधर-उधर देख रहा था। दंगल प्रारम्भ हुआ। छोटी-छोटी जोड़ें छूटीं। विजयी अंगोछे पाकर उतने ही प्रसन्न हो रहे थे जितना बंगालके अकालका भूखा भोजन पाकर। थोड़ी ही देर बाद लोगों का मन इतनी देरसे प्रत्याशित जोड़ेको देखनेके लिए पुनः आतुर हो उठा। लेकिन पहले छोटे जोड़े समाप्त कर ही बड़े जोड़े छुटेगें, इस नियमके कारण और भी कुछ देर तक लोगोंने संतोष किया।

लेकिन यह बाँध कब तक ठहरेगा। आखिर एक जगहसे छेद हो ही गया।

दल्लूके दलके एक आदमीने पूछ ही तो दिया—

"बैजूसिंह नहीं दिखाई दे रहे हैं।"

कुछ लोग तमतमा उठे। अभी आ जायगा तब मालूम होगा। कुछ झल्ला भी रहे थे कि मुंह ही न दिखाना था तो जोड़ क्यों बदा, हाथ क्यों मिलाया ऐसेसे ? सच बात तो यह थी कि वे बैजूकी विजय तो चाहते ही थे। वे उसकी अनुपस्थिति या देर के कारण प्रतिपक्षीका इतना भी व्यंग्य सहनेको तैयार न थे। चुपके से दो-चार उसे बुलाने खिसक गये।

बैजूका कांचन रंग, धुली हुई धोती, आधी बांहकी सटी हुई गंजी, हाथमें लाठी, शरीरकी लुनाई, मुखकी प्रसन्नता, स्मितहास यह सब मिल कर उसके हृदयकी उमंगके अणु-अणुको बाहर कर रहे थे। वह रंगस्थल पर जानेके लिए स्वयं आतुर था। धन्नीके द्वार पर उसके बाहर निकलनेकी प्रतीक्षामें यह स्पष्ट हो रहा था।

"बैजूसिंह कौन है ?"—दारोगाने पूछा। उसके पीछे पचीस पुलिसवालोंका हथियारबन्द दल था।

"मैं ही हूँ !"

"पकड़ लो इसे !" उसकी लिखी रिपोर्टमें और बैजूमें कोई अन्तर न पड़ा। धड़से हथकड़ी पड़ गई।

"दस मिनटके लिए मुझे छोड़ दीजिये। केवल अखाड़ेमें उतर भर लेने दीजिये। वहाँ दल्लू आ पहुँचा है"—बड़ा करुण अनुनय था बैजूका।

"सीधेसे चले चलो। दंगल फिर मारना"—दारोगाने डाँटा। बैजूकी आँखोंसे खून उतर आया। पुलिस उसे लेकर जा रही थी।

यह काण्ड देखनेके लिए, अभी भी गाँवमें दो-चार अखाड़े पर जानेसे बचे हुए थे। बिजलीके समान यह खबर पहुँच गई कान-कानमें। उस रंगस्थलमें यह समाचार वज्रके समान गिरा। धन्नी गिर पड़ा। लोगोंकी आँखोंसे क्रोधके आँसू निकल पड़े।

होरीका चेहरा हँस रहा था।

● ●

• • जीवन-साथी

[एक]

मत्तू चमारको एक सौ दस वर्षमें नये दाँत निकले, तब सभीको अविश्वास हो गया उसकी उम्रमें। गाँवका प्रत्येक प्राणी सोचने लगा कि यह निश्चय ही झूठ बोलता है। उसकी इतने दिनोंकी, अपनी टोलीसे ग्राम पंचायतमें प्रतिनिधि होकर दूधका दूध और पानीका पानी कर देनेकी सारी प्रसिद्धि पर पानी फेर दिया उस दूधके दाँतने। यद्यपि अभी भी उसी गाँवमें ऐसे लोग थे जो उसकी अवस्थामें विश्वास करना चाहते थे पर ग्रामीणोंकी बुद्धि हैरान थी उस दूधके दाँत और अवस्थामें सामंजस्य स्थापित करनेमें। परिणामस्वरूप हर एक दूसरेसे पूछना चाहता था पर किसका प्रमाण माना जाय ? उस गाँवमें तो उस समय ऐसा कोई भी न बच रहा था जिसकी अवस्था ६० से अधिककी होती। हार मान कर अन्तमें सभीने निश्चय किया कि ईश्वरके कियेमें किसीको अविश्वास करनेका अधिकार ही क्या है ? यह कोई होनी थी जो हुई। अंततः इस बातको ईश्वरके सहारे छोड़कर, फिरसे एक बार मत्तूकी सच्चाईमें सभीने विश्वास किया।

पंचई ग्राममें रहने वाले एकदम साधु हों, ऐसी बात नहीं थी। पंचईमें झगड़ा होता है, ईमान बर्ता और बेचा जाता है। कभी सिर भी फूटता है, पर थानेमें रपट नहीं लिखाई जाती। अब

तक उस गाँवकी यही परम्परा थी। इसी पर उस गाँव वालोंको गर्व था, और इसी पर उस हल्केके थानेदार हैरान थे। उनके यहाँ रखा हुआ इस गाँवका रजिस्टर सदैव सादा ही रहा। लेकिन एकको छोड़कर, समयको उस दिन सभीने कोसा जब इस गाँवके रजिस्टरमें भी स्याही फिर गई। बात यह हुई कि एक दिन बात ही बातमें पालो और जंगीमें कुछ कहा सुनी हो गई। इधर गाँवमें कुछ दिनोंसे एक ऐसी खिचड़ी पक रही थी, जो न तो तैयार होती थी और न हाँड़ी ही फूटती थी। रामनिहोर, बंशलोचन और पाँचू, तीनों तीन मतके थे। बंशलोचनकी बात गाँवमें किसीकी समझमें न आती, यद्यपि उनका दावा था कि वही सबसे अच्छी और ठीक बात कहते हैं। यद्यपि मत्तू चमार था, पर उसके भतीजेके लड़के चंपक और पाँचूमें निभती थी। दोस्तीकी बात इसलिए नहीं थी; कि उसका नाम चंपक था बल्कि इसलिए कि वह मोचीका काम करता था और सुन्दर गायक था। इन्हीं दो गुणोंके कारण पाँचू और उसमें दोस्ती थी। रामनिहोरको यह बात बुरी लगी कि पालोने जंगीको फावड़ेसे मारा केवल इसलिए कि वह मना कर रहा था अपनी जमीनमें नाद गाड़नेसे। बात बुरी थी। थोड़ी सी बातके लिए फावड़ेसे मारना। कहीं उसके सिरके बीच फावड़ेकी धार पड़ी होती तो वह मर ही चुका था। यह तो संयोगकी बात थी कि वह नाकके ऊपर सरमें थोड़ा सा घाव करके ही रह गया। जंगीको माँकी गुहार और कलपको ऐसा कौन था जिसने न सुना हो। सभी पालोको गालियाँ दे रहे थे। भगिया अन्तमें अपने बेटेकी चोट और उससे निकले हुए खूनको हृदय

और हाथोंमें लिये जमींदारोंके यहाँ न्यायके लिए पहुँची। भगियाकी परिभाषामें गाँवका प्रत्येक वयोवृद्ध ठाकुर जमींदार ही था। अस्तु वह अपने घरके पास ही मिले अछयबर सिंहके आगे ज़मीन पर खून पोत कर, रोती हुई बोली,—"भइया, न्याय तुम्हारे हाथ है। हमारे लड़केको तो पालोने मार ही डाला। अब दण्ड आपके हाथ है।" ठाकुरने घाव देखा और क्रुद्ध होकर फैसला दिया कि पालो जंगीको घी खानेके लिए २० रु० दे। उन्होंने भगियाको समझाया और वह अपने लड़केको ले घरकी ओर मुड़ पड़ी।

"क्यों भग्गो, बेचारे जंगीको कहाँ चोट लगी है?" रामनिहोर ने टोका। इतना सुनना था कि भगिया फिर विलाप करने लगी और आँसुओंकी धारमें अपने बेटेके सरकी चोट उसने रामनिहोरको दिखाई।

"अरे बाप रे! यह तो पालोने लाख रुपयेकी जान ही ले डाली थी। तुमने थानेमें रपट नहीं की?"—रामनिहोरने पूछा।

"नहीं भइया, मैं तो कुल ज़मींदारोंके यहाँ फरियाद कर आई हूँ। दद्दा अभी मिले थे उन्होंने कहा है, कि पालोसे २० रु० दण्ड लिया जायगा जंगीको घी खानेके लिए। मामला मुकदमेके लिए मना किया है। कहते थे कि उसमें तुम्हारे बहुत रुपये खर्च हो जायेंगे, और सजा होगी कि नहीं यह थानेदारका भगवान् ही जाने।

"हुं, पांचू बाप बेटेका न्याय ही ऐसा होता है। जैसा पांचू वैसा ही उनका बाप। चल, मैं तुम्हारे साथ चलता हूँ अभी रपट करा दूँगा। मैं सुन रहा था जो अभी अछयबर दादा कह रहे थे।"

"नहीं भइया, अब थाने क्या जाऊँ। अपने गाँवसे थाने कोई नहीं गया तो मैं ही क्यों जाऊँ ?"

"बड़ी बेवकूफ है। तुम उपवास करती हो तो सब उपवास करते हैं ? चल रुपिया पैसा कुछ विशेष नहीं लगेगा। सब मदद हो जायगी।"

अन्तमें ठोक पीट कर रामनिहोर, भगिया और उसके बेटेको दूसरे दिन थाने ले ही गये, और वहाँ पहुँचते-पहुँचते उसके पांच रुपये गल गये। थानेदारके दर्शन भी न हुए। मुन्शीने रिपोर्ट लिखी, पर वह केवल पाँच रुपयेमें एक दिन पहलेकी तारीखमें, जिस दिन कि घटना हुई थी, रिपोर्ट न लिख सका। फिर भी, रामनिहोरकी बातोंने उसको इस बातका आश्वासन दिया कि सजा तीन सालसे कमकी न होगी।

[दो]

"दोहाई दादाकी, गलती हमसे जरूर हुई लेकिन अब जान मेरी आपके हाथ है। सुना है तीन सालसे कमकी सजा न होगी" पालोने पाँचू दादासे कहा।

"रामनिहोरके कहनेसे तुम्हारी सजा पांच सालकी हो जायगी। हाकिम वही तो हैं। चलो, तुम्हारा दावा हम पंचायतमें करा दें। कह देना कि नाद हमारी गड़ी थी, जंगी खोद रहे थे। मैंने फावड़ा पकड़ा, इन्हींके हाथसे छूटकर वह इनके माथेमें लग गया।"

"दोहाई दादाकी।"

"हां, हां चल हम कह रहे हैं न। बहुत होगा दस बीस रुपया जुर्माना हो जायगा। दे देना।"

शामको ही भगिया पांचूके पास दौड़ी पहुँच गई। आद्यंत उसने सब बताया कि किस प्रकार उसके जंगीको पालोने मारा, और अब किस प्रकार पांचूने पालोका पक्ष पकड़कर पालोका दावा पंचायतमें करा दिया है और उसकी सजा नहीं होने दे रहा है।

"हमसे क्या मतलब, मैं इस झगड़ेसे क्या सम्बन्ध रखता हूँ? पालोने गलती जरूर की है। कहो तो हम अभी चल कर तुम्हारे सामने पचास जूते मारें और दस-बीस रुपया दण्ड भी दिलायें।" पांचूने बिगड़ कर कहा।

"नहीं दादा, अब उसकी सजा हो जाने दो। अब तुम इस बीच न पड़ो, हाथ जोड़ती हूँ। एक लाखकी जिन्दगी मेरे जंगीकी उसने ले ली थी।"

"तो सजा दिला देनेसे वापस मिल जायगी? ज़्यादा रुपया बढ़ा है तो कुछ खेत वगैरह ले लो। थानेदार सिपाहीको देनेसे क्या मतलब?"—पांचूने उसी रोबसे कहा।

"नहीं दादा। जो न्याय करोगे सब मानूंगी। झूठ बोलती होऊं तो अभी दस जूते मारो। मैं तुम्हारे पैरकी पनही हूँ। मैं अपने जमींदारोंके खिलाफ कभी न जाऊंगी लेकिन उसकी सजा हो जाने दो।"

"ओफ, बड़ी पागल है। तो जाकर जो चाहे करो। फिर मुझसे कुछ न कहना।"—और पांचू उठकर चल दिये।

इधर पालो खुश है कि उसका दावा पंचायतमें थानेकी रपटसे एक दिन पहले ही पांच आने पैसेमें हो गया है। अब तो जब तक पंचायतका फैसला नहीं हो जाता तब तक तो थानेदार कोई मामला चला नहीं पायेंगे। उधर पांचूने घूम-घाम कर सारे गांव को पालोका दोष दिखाते हुए भी, थानेकी रपटके विरुद्ध कर लिया। जो बात अपने गाँवमें कभी न हुई हो वह आज कैसे हो जायगी?

बंशलोचन और रामनिहोरकी कुल बुद्धिमानी और चालाकी पाँचूके एक ही दाँवमें लग गई। अब उनके पास कुछ न दिखाई पड़ता था जिसे पुनः लगाकर कुछ खेल सकें। अन्तमें उन्होंने पंचोंके पास सोच-समझकर पहुँचना प्रारम्भ कर दिया। उनकी माँग इतनी ही थी कि वे इस मुकदमेको न्यायालयमें जाने दें। यदि किसी कारणवश ऐसा न हो सके तो उसका फैसला घाव पूजनेके पूर्व ही कर दें ताकि इसकी अपील हो सके। पर पंचायत, ऐसा जान पड़ता था कि, इन दोनों माँगोंके प्रति उदासीन थी। यह बात नहीं कि पंचायत इस मामलेमें अन्याय करना चाहती बल्कि इसको वह थानेका मामला बनाकर अदालतमें नहीं देना चाहती थी। निदान, यह तय हुआ कि इस मुकदमेका फैसला १५ दिन बाद महाशिवरात्रिको होगा।

गाँवके बाहर एक पीपल है। पर, उसमें पक्षी वास नहीं करते हैं। यह एक ऐसा आश्चर्य था जिसे मत्तू ही जानता था। उसका कहना था कि यह पीपलका पेड़ उसके जन्मके दिन का ही है। उसके बापने एक जमींदारके घरकी दीवारसे, जिसके यहाँ वह

काम करता था, निकालकर यहीं गाड़ दिया था। जिस दिन उसने गाड़ा उसी दिन मत्तूका जन्म हुआ था। लेकिन अन्य वृक्षों की भाँति इस पर पक्षी प्रारम्भसे ही नहीं बैठते थे। पहले तो लोगोंने सोचा कि छोटा होनेके कारण इस पर पक्षी निवास नहीं करते लेकिन जब मत्तूका बाप मरा तो उसके बाद ही से एक कौआ उस पर रहने लगा था। यह बात सत्य थी कि उस पर एक ही कौआ जा बैठता। गाँव वालोंको मत्तूकी इस कथा पर उतना ही अविश्वास था जितना उसकी उम्र पर। लेकिन मत्तू इस बात पर बराबर ज़ोर देता था कि उसकी और उस पीपलके वृक्षकी उम्र एक ही है। वह उसका जीवन-साथी है और इसलिए जब वह सरपंच चुना गया तो उसने बराबर पंचायत उसी वृक्षके नीचे बुलाई। आज भी उसी नियमके अनुसार इसी वृक्षके नीचे पंचायत बैठी। टाट, दरी, तम्बाकू, सुरती, सभी कुछ जुट गया। सरपंच मत्तू और इस पंचायतसे सम्बद्ध पांच प्रतिनिधि वहाँ बैठे थे। सायंकाल ६ बजे मुकदमा पेश हुआ। दोनों पक्षोंने अपनी-अपनी बात बारी-बारीसे कही। गाँवके सभी लोग उपस्थित थे। रामनिहोर, बंशलोचन, जंगी, पालो सभी थे, पाँचू भी एक कोनेमें बैठा था।

भगियाने हाथ जोड़कर कुछ कहनेकी आज्ञा माँगी और उसकी बात भी सुनी गई लेकिन पालोने कहा कि उसने जंगीको नहीं मारा बल्कि जंगी खुद ही कसूरवार है। वह पालोकी नाद खोद रहा था और जब पालोने उसका हाथ पकड़ा तो उसीके हाथसे स्वयं फावड़ा फिसला और उसे चोट लग गई। यद्यपि

इसमें पंचोंकी ओरसे किसीका पक्ष नहीं लिया जा रहा था, विशेषतः सरपंच मत्तू तो बिल्कुल ही निष्पक्ष था, फिर भी उसने नियमानुसार जंगीसे पूछा—"तुम कुछ गवाह भी पेश कर सकते हो जिन्होंने यह देखा हो कि पालोने तुम्हें मारा ?"

अभी जंगी कुछ कहे न कहे तब तक भगिया चीख उठी—"आग लगे ऐसी पंचायतको। दुनिया जानती है कि पालोने जंगीको मारा। जंगीका घाव कहता है कि जंगीको पालोने मारा। मैं कहती हूँ कि पालोने मारा। फिर भी गवाही के बिना काम न चलेगा। किस-किसकी गवाही दूँ ? सभी तो जानते हैं। जिसको कहिए उसको बुला लूँ।"

मत्तूने कहा—"यह सब ठीक है लेकिन कायदेके अनुसार एक या दो आदमी जो भी उस समय बीच-बचावमें रहे हों, जिन्होंने देखा हो कि पालोने मारा, उनको यहाँ आकर कहना जरूरी है। अन्यथा इस प्रकार तो कोई भी आकर कुएँकी जगतसे गिर कर कह दे कि मुझे अमुकने धकेल दिया था। तो इस प्रकार सबका विश्वास किया जायगा ?"

कुएँकी जगत वाली बात भगियाको व्यंग-सी लगी, यद्यपि वह व्यंगसे नहीं कही गई थी। वह चमक उठी। छाती पर हाथ पीट कर उसने कहा—"यदि कोई देखनेवाला न हो तो ईश्वर तो देखता है। तुम्हीं कहते हो कि मैं एक सौ वर्षका हुआ। यह पेड़ जिसके नीचे पंच बैठे हैं कहते हो मेरे जन्मका साथी है। तुम्हीं बताओ किसने इसे यहाँ देखा है। तुम्हारी बातका

विश्वास बिना गवाही लिये लोग कैसे करते हैं ? तुम यदि ईश्वरकी गवाही पर जीते हो तो मैं भी उसीको गवाह मानती हूँ। पर मैं तुम्हें अभी गाँवके भी गवाह दे सकती हूँ ? तुम किसकी गवाही लोगे ?''—इसी प्रकार उसने और भी बहुत कुछ कहा। उसके शान्त होने पर फिरसे मुकदमेकी सुनवाई हुई। गवाह आये और हल्की बहस भी हुई। अन्तमें पंचोंने पालोको ५० रु० जुर्मानेकी सजा सुना दी और कहा कि वह भगियाके पैर पर गिर कर माफी माँगे।

फैसलेको सुनकर लोग वैसे ही खिसक चले, जैसे पटाकेको सुनकर कबूतर। आँधीके आसार मालूम पड़नेके कारण, लोग और भी न रहे।

रात भर खूब जोरोंकी आँधी चलती रही। मालूम पड़ता था कि जैसे भूकम्प आ गया है। लोग घरोंके कपाट बन्द किये, मुर्दोंसे होड़ लगा रहे थे। रातको पंचायतसे लोग किस तेजीसे खिसक चले थे, किस-किसने दरी-टाट लपेटा था, और कौन कब कैसे चला गया यह सब मत्तू तो देख रहा था पर इस बातको किसीने न देखा कि मत्तू वहाँसे न हटा।

दूसरे दिन प्रातःकाल सूर्योदय हो जाने पर लोगोंने देखा कि गाँवके बाहर पीपलका विशाल वृक्ष गिरा हुआ था। महान् आश्चर्य था, लोग यों ही दौड़ पड़े। वहाँ जाकर गाँव वालोंके आश्चर्यका और भी ठिकाना न रहा जब उन्होंने देखा कि वहाँ पासमें मत्तूका शव पड़ा है, और एक कौवा भी।

आज भी उस गाँवमें मत्तूकी गवाही प्रसिद्ध है। आज भी लोग कहते हैं मत्तूकी गवाही ईश्वरके सामने उसके जीवन-साथी पीपलने दी थी, वह उसका जीवन-साथी था।

● ●

•• पुरुषार्थ

[एक]

"जिन्दगी एक करामात है। ऐसी करामात जो पुरुषार्थ-कृत है। जो पुरुषार्थ हीन है, वह जी नहीं सकता। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। यह करामात उसके लिए अवश्य है। उसकी जिन्दगी जिन्दगी नहीं। तो यह पुरुषार्थ क्या है?"

"कौन हँसा? इस पर हँसा कि मेरा ऐसा सोचना विडम्बना है? आत्म प्रवंचना? नहीं! ऐसा नहीं!"

"कौन?"

"मैं हूँ सुरेश और मेरे साथ है हरीश—"

"तुम क्यों हँसे?"

"क्यों हँसे? हँसा इसलिए कि हँसीकी बात थी।"

"तो क्या मैं ऐसा न सोचूँ? क्या पुरुषार्थ कुछ नहीं?"—सुरेश फिर जोरोंसे हँस पड़ा। कहने लगा—"हरीश, सुनते हो प्रकाशकी बातें। आप पुरुषार्थकी बातें कर रहे हैं अकेले कमरेमें। खैर, जो कुछ भी हो, मैं तो हँसा था हरीशकी बेवकूफी पर, तुम्हारे पुरुषार्थ पर नहीं।"

प्रकाश पुरुषार्थकी बात चाहे जितना भी सोचे पर परिस्थितियोंके चक्करसे बच निकलना, अभी तक उसके लिए नितान्त सम्भव न हो पाया था। मनस्वी युवक, विचारशील था और था अदृष्टसे भीरु।

इसीलिए तो बाहर सुरेशकी हँसीमें…ऐसे मौके पर जब कि वह मानसिक संतुलनको ठीक करनेमें व्यस्त था…अदृष्टका आभास पाकर उसका हृदय काँप उठा था। दिलकी धड़कनें तेज हो गई थीं। अब हरीशकी बेवकूफीकी बात सुनकर वह स्वस्थ हुआ। अपनी बला टली जानकर उसे दूसरेकी बेवकूफीमें रसवादकी सूझी। उसने छेड़ा, "क्या बेवकूफी थी?"

हरीश चुप था। सुरेशकी मुद्रा गम्भीर हो गई। उसके लौह-से ठोस चेहरेमें धँसी आँखें चमक उठीं। आँखोंके नीचे वर्तुल कालिमामें ईषत् स्निग्धता आ गई। मुखाकृति किंचित् घृणा-मिश्रित क्रोधसे विकृत हो गई। वह कहने लगा—"तुम दोनों पागल हो। वास्तविकतासे दूर रहनेवाले अलौकिक हो, मूर्ख हो। दूसरोंके भुलावेमें फँसने वाले भावुक, अपनी कमज़ोरियों पर परदा डालने वाले वाणीके विलासी हो। एक कहता है पुरुषार्थ क्या है? दूसरा कहता है विश्वके कल्याणका आधार क्या होगा? एक अतीतके वैभवसे अपनेको छलना चाहता है, दूसरा भविष्यकी कल्पनामें निमज्जित आजकी कठिनाइयोंसे मुख मोड़नेका विफल प्रयास कर रहा है। दोनों पलायनवादी। जो हो रहा है उसे कोई भी आँख खोल कर नहीं देखता। यह कोई नहीं देखता कि आजका पुरुषार्थ मरते हुए को मारनेमें परिणत हो गया है, भूखेको नंगा करनेमें हो गया है। अगर तुम्हारे पुरुषार्थका यही मतलब है तो तुम ठीक सोचते हो। यह कोई नहीं देखता कि विश्वके कल्याणका आधार इस ढहती हुई इमारतको एक धक्का और देनेमें है। इसी-लिए मैं कहता हूँ विश्वका कल्याण कल्पनामें नहीं, आँख खोलकर

'आज' को देखनेमें है। अभावके सागरमें एक बूँद पानीसे बाढ़ नहीं आती। उसे और खोदकर उसके अंतरालसे रसकी अजस्र धारा फोड़ने पर ही वह भरेगा। मैं जाता हूँ।"

वह चला गया। प्रकाशका कक्ष निस्तब्ध, नीरव। प्रकाश चुप, हरीश खाली। जैसे आदमी सूनसान खंडहरमें अपनी ही आवाज पर चौंक उठता है, वैसे ही चौंकते हुए हरीशने प्रकाशको जगाया। वह कभी हँसता नहीं। आज एकाएक हँसा। दुरभिसंधि की भाषा बोलता है सदा। जब बोलता है तो एक साँसमें। हृदय पर भारी पत्थरका बोझ-सा लाद देता है सुनने वालोंके। चला गया। अच्छा हुआ। "फिर किसी दिन आऊँगा"—कहता हुआ हरीश भी उठा, और कमरेके बाहर हो गया। जैसे उसके भीतर भी अन्धकार छा गया हो। प्रकाश चुप था।

[दो]

केवल तीन महीने बाद। प्रकाश हरीशके घर गया है। हरीशके प्रदीप्त प्रकोष्ठमें मुलायम गद्दोंकी मखमली कुर्सियोंमें आधा धँसा, प्रेम और लापरवाहीसे बातें करनेकी चेष्टा कर रहा था। सुखके समस्त साधनोंके हाथ बाँधे खड़े रहने पर भी वहाँ प्रकाश को कुछ कमी-सी मालूम पड़ रही थी। उसकी आखें इतस्ततः नाच रही थीं। वह हरीशसे दत्तचित्त होकर बात करने की चेष्टा कर रहा था। हरीश समरस-सा अपने कोचमें एक आसनसे पड़ा था। प्रकाशको मानो कोई चीज़ गड़ रही थी। बार-बार वह

आसन बदलता। हरीशके सहज विनोद पर वह हँसता, पर निसर्ग-सरलताकी मधुर ध्वनिके स्थान पर फूटे बरतन-सी बेसुरी आवाज आती। उसके ही कानोंको खटकती। उसके कमरेमें टँगे कलात्मक चित्रोंकी व्याख्या करते समय विषादकी तूलिका मूर्तिमान हो उठती, कलाकारके हाथोंमें। संयमका बहुत प्रयत्न करने पर भी अन्तरका अभाव उसांसको लम्बी खींच देता, और तब क्षण भर चुप रह कर, प्रकाश फिर बातकी कड़ी उठा लेता। घंटोंके इस नाटकके बाद हरीश पूछ बैठा—"कहो, प्रकाश आजकल क्या कर रहे हो?"

प्रकाशकी आंखें खाली हो गईं। उनकी मानो ज्योति ही चली गई। मन खाली हो गया, मानो उसमें कोई हुमक बची ही नहीं, धमनियोंमें रक्त सूखने लगा। बुद्धि तो पहले ही, उसके जीवनमें अभावोंके प्रारम्भ होते ही, पिण्ड छुड़ाकर भाग गई थी। वह क्या उत्तर दे? जैसे भीतरसे किसीने धकेलकर कहलाया और उसने कहा—"कुछ नहीं! अच्छा नमस्कार।"

"नमस्कार"

प्रकाशके जीवनमें अंधकारकी व्यवस्था इतनी सुदृढ़ हो चली थी, कि उसे टटोलने पर भी कहीं कोई आशा न बँधती। आशासे सम्बन्ध बने रहने पर यह जीवन भी है, और टूट जाने पर मृत्यु भी। फिर भी, यह इतनी स्पृहणीय है कि इसे कोई छोड़ता नहीं। जीवनके अंतस्तलमें छिपी दाहकताकी सफलताके शीतल सरोवरमें दबाये रखने पर यह आशा वरदान बनती है, और असफलताकी

सतत चोटें इसमें वह उफान पैदा करती हैं जो मानवका सबसे बड़ा अभिशाप है ।

हरीशके घरसे चला तो बार-बार प्रयत्न करने पर भी उसके पैर उसे दूसरे रास्ते पर ले जाते । सीधे अपने घर जानेकी बलवती इच्छा रहने पर भी पैरोंकी बगावत उसे देर तक इधर-उधर घुमाती रही । वह सोचता—"घर चलूँ ।" उसके पैर उसे ले चलते उस निर्जनमें, जहाँ पहुँच कर वह झुँझला उठता—"मैं यहाँ क्यों आया ? कौन ले आया मुझे ?" और फिर चल पड़ता वह घरकी ओर ।

घर पहुँच कर उसने धीरेसे दरवाजा खोला । अपने ही घरमें उसकी चोर जैसी दशा क्यों ? जिस घरमें मीठे तेलका एक दिया भी न जल रहा हो, उसमें निश्चय ही चोरके लिए कुछ भी नहीं होगा । फिर भी उस अँधेरे घरमें उसके पहुँचनेके पूर्व भी चार प्राणी रह रहे थे ।

"कौन ?"

"मैं हूँ प्रकाश ।"

उर्मिला उठ खड़ी हुई । उसके रोम-रोममें प्रकाश भर उठा । उसके घरके कोने-कोनेमें प्रकाशकी अजस्र धारा फूट पड़ी । वह इस प्रकार उठी जैसे वह सब कुछ देख रही हो । जीवनकी लालसाको आशाकी डोरमें बाँधे, अपना आँचल सँभालती हुई, वह उठ खड़ी हुई ।

प्रकाशका हृदय धड़कने लगा । उसके एक ही प्रश्नका वह कितना उत्तर देगा ? किन शब्दोंमें उसे वह कुछ दिन और ढाढ़स

बँधायेगा ? वह अधीर हो उठा। तमकी कालिमा और भी घनी हो जाती, तो भी उसे डर था उसकी रिक्त हँसीको उर्मिला देख लेगी।

"क्या हुआ ? बड़ी देर लग गई ?"—उर्मिलाके स्वरमें आशाकी छलना और मधुर कल्पनाके सुन्दर स्वन् हो रहे थे।

"आज तो कुछ नहीं हुआ, पर आशा है कल अवश्य ही कुछ हो जायगा। उन्होंने कल फिर बुलाया है।"

उर्मिला इस संवेदनाकी चोट न सह सकी। उसका मन विकल हो उठा। उसके नेत्रोंसे बहती हुई आँसुओंकी धारामें चाँदनी भी तरल होने लगी। प्रकाशके पौरुषने उसे सँभालनेकी चेष्टा की। उसने कहा—"घबड़ाओ नहीं, यही तो परीक्षा-काल है।"

सिसकती हुई काँपती आवाजमें उर्मिलाने कहा—"धीरे बोलो, सात दिनके भूखे बच्चे आज शिथिल पड़ कर सो गये हैं। जग जायेंगे।"

"हूँ" लम्बी निश्वास फेंकते हुए प्रकाश चुप हो गया।

"माँ !"

कलेजा मुँहको आ गया जब उर्मिलाने कहा—"बेटा" और फूट फूट कर रो पड़ी। बच्चेने दूसरी आवाज़ न दी।

"कल मुझे कहींसे माँग कर इन बच्चोंको खिला देनेकी आज्ञा दे दो।" उर्मिला, अपनी दोनों बाहोंसे प्रकाशकी गरदनमें झूल रही थी। "किससे माँगोगी ?" प्रकाशका स्वर कठोर हो गया। वह सँभल-सँभल कर कहता गया—"जो सहस्र नेत्रोंसे देखता है, जब वही नहीं, दे रहा हो, तो जो नहीं देखता उससे माँगनेसे

क्या लाभ ? यही न कि तुम्हारे फूलसे कोमल बच्चे सूख कर काँटे हो जायेंगे ? अगर उससे भी उसकी तृप्ति न हुई तो उनकी भी बलि देनेमें, अपनेको भी होम कर देनेमें, हम दोनोंके जीवनकी सार्थकता है। हमारे पुरुषार्थकी इतिश्री यहीं होगी। कुलकी मर्यादा…" आगे नहीं बोल सका। फिर दोनोंकी आँखोंमें बाढ़ आ गई, और दोनों ही रजनीके कलंककी कालिमा धोनेसे लगे, अपने पवित्र तपःपूत आँसुओंकी धारासे।

कालिमा शायद धुल गई। पौ फट चली।

[तीन]

प्रकाश नित्यकी भाँति आज भी अपने कुलके शील और मर्यादाकी धूलसे सना, आत्मसम्मानकी रेखोंको ललाटमें डाल, विषादकी डोरमें आँखें पिरोकर बाहर चल पड़ा। पीछे दरवाजा बन्द हुआ। उर्मिलाकी आँखें जहाँ तक जा सकती थीं बिछ गईं। प्रिय पग लौटेंगे। फूल बन कर चढ़ेंगी उन पर ये आँखें। उनके चरणोंकी धूल इनका पराग बनेगी। बरौनियोंमें उलझे अश्रु-कण चल पड़े धोने उन चरणोंको अभीसे।

माँकी यह पूजा बच्चे भी समझते थे। किन्तु जिस पूजामें प्रसादके कण भी न हों वहाँ अधिक देर कैसे ठहरते ?

उर्मिलाने गोदके बच्चेको संभाला और चल पड़ी। अपने मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले तक फिर वहाँसे तीसरे और चौथेको। जहाँ तक उसके पैर जा सकते। प्रायः नगरका छोर-सा आ गया। कई दिनोंकी भूखी माँ आज भी अपने बच्चेको छोड़ न सकी। माँका

शरीर श्लथ हो सकता है, पैर थक सकते हैं, आँखें धँस सकती हैं, बाल उरझ सकते हैं, वस्त्र फट सकते हैं, पर ममता नहीं छूटती, मन नहीं थकता, पति और पुत्रके लिए आँखें बिछी ही रहती हैं, उरझे सूखे बालोंकी लटोंसे भी स्नेह और प्यार टपकता ही रहता है, फटे होने पर भी वस्त्र लाज ढोते ही हैं। उर्मिला गलीके मोड़ पर लगे नलके चबूतरे पर बैठ गई। दो चिल्लू पानी स्वयं पीकर अपने आंचलकी छोर उसने पानीसे भिगो दी। कभी ये आंचल कोखके दूधसे भीगते थे। आज पानीसे भीगे आंचलकी छोर उसने बच्चेके मुखमें रख दी। दो क्षण बच्चा चुसकता रहा किन्तु पानी और दूधके अन्तरको वह भी जान रहा था। जलते तवेको जलने देना चाहिए। पानीकी बूंद उसमें छनछनाहट पैदा करती है। बच्चा रो पड़ा। उर्मिला घबरा उठी। उसने सूखी छातीसे उसे चिपटा लिया।

वह सोचने लगी। बीते हुए दिन याद आने लगे। स्मृति मधुर होती है। उसकी वेदनामें भी आनन्द आता है। गंगाके किनारे उसके बाबू का घर। माँके साथ पानी लेने आना। मचल कर पानीमें कूदना। बाबूका दौड़कर निकालना। माँका "हाय डूबी कहना" और अपना खिलखिलाकर हँसना। "माँ मैं डूबूँगी नहीं"—उर्मिला माँसे चिपटती हुई खिलखिला पड़ती। फिर बाबूका निधन, माँका विलाप और संताप भी सामने आया। मामाके घर शहरमें आना। फूली-फूली-सी लड़कियोंके संग खेलना। स्कूल जाना, कालेजमें प्रवेश, और विवाह सब बारी-बारीसे सामने आये। कालेजके पीछे सघन पुष्प-वृक्षोंके कुंजसे अजिता फूल तोड़ती।

इसके बालोंमें गूंथ देती। चमक कर इसका मुख देखती फिर कहती—"उर्मि, तू जिसके घर जायेगी सदा उजाला ही रहेगा। तेरा वह तुझे निहारता ही रह जायगा। तू उसके घरकी रानी होगी"—फिर आँसू ढुलक पड़े। वह चौंक कर इधर-उधर देखने लगी। कोई देखता तो नहीं।

पर यहाँ देखे भी तो क्या? यहाँ मुझे कोई पहचानता भी न होगा। देखे तो शायद दुःखी जानकर कुछ दे ही दे। तो क्या मैं ले लूँगी, उनकी सीखके विरुद्ध? क्या मैं भीख माँगू? ना मैं तो यह न करूँगी।—फिर सोचने लगी, भीख माँगना, चोरी तो नहीं है। चोरीमें दूसरेका धन, दूसरेकी वस्तु, उस वस्तुके भोक्ता और स्वामीकी मर्जीके खिलाफ़ उसके अनजानेमें ली जाती है। यहाँ तो मैं उससे मांगकर उसकी इच्छासे, उसकी दयासे लूँगी। पर वह उस वस्तुका भोक्ता कैसे हुआ? उसका स्वामी कैसे हुआ? मैं उसकी दयाकी भीख क्यों माँगूँ? मनुष्य अपने लिए नहीं जीता वह समाजके लिए जीता है, अतः उसे जीनेका अधिकार है। इस अधिकारको कोई छीन नहीं सकता। मैं नहीं माँगूँगी।

सहसा, उसकी दृष्टि उठ गई। देखा सामनेसे एक सुन्दर युवक चला आ रहा था। वेष-भूषासे समृद्ध जान पड़ता था। उसके चेहरे पर आर्द्रता थी। सम्भव है कुछ दे दे। उर्मिलाके हाथ फैल गये। वह युवक मोड़तक आया भी। उसने देखा और अनदेखा कर गलीमें आगे बढ़ गया। उर्मिलाको जैसे सहस्रों बिच्छुओंने एक साथ डंक मार दिया हो। उसकी पीड़ा असह्य

हो उठी। माथे पर असंख्य बूँदें कुंकुम-सी झलक पड़ीं। वह ऐसी पड़ गई मानो साँपने छू लिया हो। क्षण भर बाद वह संभली। हाय, मैंने यह क्या किया। अब उनको कौन सा मुँह दिखाऊँगी। पर यह था कौन? इसने मुझे पहचाना तो नहीं? मुझे तो ऐसा लगा जैसे निर्मल हो।

निर्मलका ध्यान आते ही उर्मिला चोट खाई नागिन-सी छटपटा उठी। निर्मल उसके कालेजके दिनोंमें पड़ोसके कालेजका विद्यार्थी था। वह देखनेमें सुन्दर था पर उर्मिलाको अच्छा न लगता। उसका उर्मिलाको देखना बुरा लगता। इन्टरमें पढ़ती थी, तभी तो उसके मामाने इसकी शादीकी बात चला दी। मामाके गलेमें दूसरेकी लड़की कब तक भार बनी लटकती। शादीकी पहली बात जिसके घर चली थी उसका भतीजा यह निर्मल ही तो था।

'मेरे मनने सोचा था मैं इससे शादी नहीं करूँगी। पर मामाके सामने मेरी कैसे चलती! मैंने सोचा था मैं भाग जाऊँगी पर इससे तो कुलकी मर्यादा ही नष्ट हो जाती। फिर सोचा गंगामें डूब कर प्राण दे दूँगी। मरनेके बाद मर्यादा कैसी होती है, कौन जानता है? पर याद आई-हँसीकी वह बात जब माँसे कहा था कि मैं डूबूँगी नहीं। पर, मैं शादी निर्मलसे नहीं करूँगी। संयोग से परमात्माने कृपा की। तिलक-दहेजने ही मेरी बला टाल दी। मामा अधिक तिलक नहीं देना चाहते थे। उनकी अपनी लड़की सरोज जो थी।"—यकायक उसे फिर निर्मलका ध्यान आया। तो क्या उसने पहचानकर बदला लिया? वह तिलमिला उठी। उसके पैर जल्दी जल्दी लौट पड़े।

साँझ हो रही थी। उर्मिलाका मन और दिन दोनों डूब रहे थे। गोदका बच्चा रो रहा था। हिचकियाँ थीं कि आखिरी। उसका सबसे बड़ा बालक दरवाजेकी देहली पर घुटनोंमें सर डाले बैठा था। उर्मिलाने धड़कते हुए कलेजेसे भीतर प्रवेश किया। बालक माँको देखते ही रो पड़ा "माँ।" माँने देखा, उसकी पाँच बरसकी लड़की सुमन मुरझा गई थी।

[चार]

रात्रिके अभी नौ बजे थे, पर न केवल उनके भीतर ही वरन् बाहर भी ऐसा मालूम हो रहा था जैसे सारे विश्वका व्यापार बन्द हो गया। निपट नीरव शाँति। वायुमंडल इतना स्तब्ध कि दम घुटा जा रहा था। फिर भी रेतको चीरते हुए छोटे बड़े पाँच प्राणी जाह्नवी तटकी ओर बढ़े चले जा रहे थे। न उनके हाथमें निर्माल्य था न दीप। पूजा करना उनका उद्देश्य न था। पर उनके कदम अविचल ऐसे पड़ रहे थे जैसे उद्देश्यकी सिद्धि निश्चित हो। पुरुषके हाथोंमें कोई कपड़ेमें लिपटी चीज़ स्पष्ट हो रही थी। दशवर्षीय बालक उसकी बगलमें हम कदम होकर चल रहा था। स्त्रीकी गोदमें बच्चा था। मानो सो रहा हो। तटपर पहुँचकर सब बैठ गये। कोई मंत्रणा नहीं। कोई हिचकिचाहट नहीं। पुरुषने अपने हाथकी परिधानवेष्ठित वस्तुको जलमें तिरोहित कर दिया। फिर उसने स्त्रीकी ओर देखा। उसकी कोखसे उसने उस सोतेसे बालकको लिया जो चिरनिद्रा निमग्न था और "उसे भी सद्यः जलमें निमज्जित कर दिया। अब वहाँ केवल तीन प्राणी थे। पुरुष स्त्री और दशवर्षीय बालक।

पुरुषने स्त्रीकी ओर देखा और स्त्रीने पुरुषकी ओर फिर दोनोंने बालककी ओर देखा। पुरुष बोल उठा, "बेटा चलोगे न ?" हाँ, पिताजी" प्रसन्नचित्त आवाज थी। उसे क्या मालूम था कहाँ ? दोनोंने उस बालकको उठा लिया। चूमा और सहसा उछाल दिया।

छपाक!

तृतीयाका चन्द्रमा अपने क्षीणकाय शरीरसे इस आघातको न सह सका जल्दीसे खिसक जाना चाहा, पर जाते जाते लहरियों पर प्रकाशकी हल्की आभा छोड़ गया। उस आभामें ही सुरेशने सुना छपाक और देखा दूर पर ढूहके समान कोई चीज़। अन्यमनस्क-सा उसने गरदन उठाई और फिर अपने दोनों जानुओंमें चिबुकको टिकाकर लहरियोंका नीरव नर्तन देखने लगा।

छपाक! फिर आवाज़ आई अबकी लहरोंमें अधिक आंदोलन हुआ। वह चौंका और उसने फिर दृष्टि उधर की। देखते-देखते एक पुरुष खड़ा हुआ और कूद पड़ा गंगामें। छपाक! सुरेशके लिए मानो कोई बात छिपी न हो। वह दौड़ पड़ा किन्तु सहसा वह भी कूदा और क्षण भर बाद ही उसने बाहर खींच लिया उस कूदने वाले पुरुषको।

रेत पर लिटा जल्दीसे उसका पेट मलने लगा। थोड़ा-सा पानी उस पुरुषके मुँहसे निकला और वह कराह पड़ा।

"कौन ? प्रकाश ?"

"हाँ सुरेश। तूने यह क्या किया? मैं तो जा रहा था। क्या तुम्हारी मित्रता इसी समय काम आनेकी थी ?"

सुरेशके सामने जैसे बिजली कौंध गई। उसके सामने मानो सारी घटना क्रमशः लिख दी गई हो। वह पुनः गम्भीर हो उठा—उसकी आँखें फिर चमक उठीं। उसने कहना प्रारम्भ किया—"प्रकाश! यह जीवन घटनाओंका केवल संघात-प्रतिघात नहीं है। घटनाओंके संघात-प्रतिघातमें मानव केवल बलिपशु नहीं है। वह केवल जीता और मरता नहीं, जिलाता और मारता भी है। तुम्हारी जिन्दगीका पुरुषार्थ यही समाप्त हो गया? जीता वही है जो अधिकसे अधिक संवेगको सहन करता है। जिलाता वह है जो इन संवेगोंको जानता है। मरता वह है जो अपुरुषार्थी है जिसमें संवेगोंके सहनेकी शक्ति नहीं। और मारता वह है जो न तो मानवको जानता है और न उसके संवेगोंको। उठो, तुम पुरुषार्थी थे न?"

प्रकाशने बलहीन होने पर भी ईषत् हाथ छुड़ानेका प्रयत्न किया। सुरेश कौंध गया। उसने चमक कर कहा—"खबरदार।"

"तुमने हत्या की है। चुपचाप चले चलो। हरीशके भावी विश्वका आधार तुम्हारे इस पुरुषार्थकी कहानी होगी। आजकी व्यवस्था तुम पर अभियोग चलावेगी। तुम्हारे संवेगोंको न जाननेके कारण तुम्हें सूखी जमीन पर, फांसीके तख्ते पर, मारेगी। तुम्हारा पुरुषार्थ हँसते हुए अपनी कहानी कहनेमें होगा। विश्व उसे देखेगा और सोचेगा अपने आधारको············"

◉ ◉

•• कलाकार

[एक]

"कला, कलाकारके आध्यात्मिक जीवनकी अभिव्यक्ति होती है। उसका आध्यात्मिक जीवन जितना ही विकसित होता जायगा उसकी कला उतनी ही ऊर्ज्वसित और सार्वभौमिक होती जायगी" अनिमेष अभी कुछ और कहना चाहता था, कि हम पहुँच गये उस घरके सामने जहाँ वह रुका, और फिर दरवाज़ा खोलकर प्रविष्ट हो गया।

वह कलाकार था। उससे मेरा परिचय कुछ अकस्मात्-सा ही हुआ था। उस दिन अनिमेषके साथ मैं चला गया था उसके घर। घर क्या था, एक रूपखण्ड था। बम्बईसे पूनाके रास्तेमें लुनावला बहुत ही रमणीक स्थान है। लोग यहाँ स्वास्थ्य सुधारके लिए बहुधा आया करते हैं। मैंने भी इतनी सुघर और स्वच्छ जगह नहीं देखी थी। ऊँची पहाड़ी पर न होने पर भी, उतार-चढ़ाव हल्के होने पर भी, यह स्थान आकर्षक और रमणीक है। पेड़ोंके झुरमुटसे घिरा हुआ, प्रायः लकड़ीका वह मकान था। उत्तर प्रदेशके पर्वतीय स्थानोंमें तो वैसे मकान बहुतायतसे देखे जाते हैं। पर इससे भी अधिक उसके सलोनेपनको बढ़ा रहा था उसका छोटापन। सम्भवतः वह अकेला था इसीलिए उसने इसे पसन्द भी किया था। अक्सर सुना करता था कि कवि अथवा कलाकारका

जीवन अस्त-व्यस्त होता है। शायद अस्तव्यस्तता और कुछ विक्षिप्तता भी साधारणतया कवि अथवा कलाकारकी निशानी मान ली गई है। पर वहाँ मेरे देखनेमें ऐसा कुछ न आया। उसके कमरेमें कीमती कहे जाने वाले सामान तो न थे पर जो थे उनको एक शब्दमें व्यक्त करनेके लिए 'सुन्दर' कहा जा सकता है। प्रथम दर्शनमें ही लगा जैसे वह स्वयं भी सुन्दर हो। शरीरके सौन्दर्यकी क्या कसौटी होती है यह तो मैं ठीक नहीं जानता। नाक, कान, आँख, मुँहकी क्या बनावट हो, सम्पूर्ण शरीर कितना दुबला अथवा मोटा हो इन दृष्टियोंसे मैं, न तो उस दिन, न उसके बाद ही, कभी भी उसे नहीं देख सका। संभवतः वह इन दृष्टियोंसे बहुतोंको आकर्षक भी न प्रतीत होता। पर कमरेमें प्रवेश करते ही उसने जिस मैत्री भावसे अभ्युत्थान दिया, उसके चेहरे पर जो करुणापूर्ण मुदिता प्रकट हुई और जिस उपेक्षा-भरी तल्लीनतासे वह बैठा, सब मिलकर उसे सुन्दर बना रहे थे। मेरा परिचय करानेके बाद अनिमेष और वह बातें करने लगे। मुझे भी उसमें योग देना चाहिए था, क्योंकि वह कोई व्यक्तिगत बातें नहीं थीं, फिर भी मेरा मन मेरी आँखोंमें समाया था। मैं पहले तो उसके कमरेकी सुरुचिपूर्ण व्यवस्था और फिर उसके प्रसाधन देखता रहा। कहीं रंग, कहीं तूली, किन्तु ऐसा लगता सभीको किसीने रखा था। वह यों ही नहीं पड़े थे। यह सब देखते हुए भी मेरी दृष्टि कहीं रुक रही थी। सामने एक चित्र था। चित्रमें, यौवनकी देहली पर पग रखती हुई एक नारी थी।

चित्रकार नारीका चित्र क्यों बना रहा है ? क्या नारी प्रकृतिके

सौंदर्यकी प्रतीक है इसलिए ? यह प्रश्न सामने आते ही उत्तर-प्रश्न बनने लगे। उत्तर और प्रश्न चलचित्रके समान एकके बाद दूसरा दृश्य उपस्थित करने लगे। मेरी दृष्टि उसके केशोंमें आकाशकी नीलिमा और विस्तार देखने लगी, केयूर कुंडलीमें जगत्‌का रहस्य छिपा हुआ दिखाई दे रहा था, शीशफूलमें नक्षत्रोंकी झलमलाहट झूठी हो रही थी, उसकी रागारुण बिन्दीसे ज्ञानकी दीप्ति फैल रही थी, भृकुटियोंकी श्यामता धरित्रीको शस्य श्यामल बनानेकी सामर्थ्य रखती थी, उसके नेत्रोंसे उदधि झाँक रहा था, उसके कुंडल मानसरोवरके किनारे बैठे हुए हंसोंको छवि दे रहे थे, ग्रीवाकी किंचित् वक्रता विश्वको परिधि दे रही थी, पल-पलमें बदलती हुई उसके शरीरकी आभासे फूल और वनस्पतियाँ नाना रूप, रस और गन्ध पा रही थीं और सर्वोपरि उसकी मुसकान जीवनको गति दे रही थी। विराट विश्वका इतना बड़ा आयोजन और कहाँ मिलता ?

मैं देख रहा था। जीवनकी उस भूमिकामें प्रवेश कर रहा था जहाँ उसकी कला सत्यका मधुमय प्रकाश फैला रही थी। जहाँ रूपकी अछोर माला गुथी जा रही थी। नूपुरोंसे विश्वकी रागधारा के स्वर अनुरणन कर रहे थे। जहाँ जीवन और मृत्यु एक ही बिन्दु में समा रहे थे। सत्य शिव सुन्दर एक हो रहे थे। रूप, रस, गन्ध सभी प्रकाशमान हो रहे थे। चारों ओर प्रज्ञाका आलोक था।

"क्या देख रहे हो ?"—अनिमेषने टोका। जैसे बिजली कौंध गई। मानो करेंट दौड़ गई। सँभला और न सँभला। हत-बुद्धि सा ताकता रह गया उन दोनोंकी ओर।

"क्यों छेड़ा तुमने अनिमेषको"—कलाकार ईषत् मुसकराहटके साथ कह रहा था ।

मेरे माथेमें स्वर अब भी गूँज रहे थे । आँखें अब भी चौंधियाई थीं ।

कलाकार चाय बना रहा था । प्याला बढ़ाते हुए उसने कहा,—"लीजिए, जीवनका उफान इसमें भी है, प्रकृतिस्थ होइए ।"

"नहीं, नहीं मैं तो चित्र देख रहा था"—मैंने कहा । देखा तो प्यालेसे वर्तुल वाष्प-रेखा ऊपर उठ रही थी ।

"जी हाँ, आप चित्र देख रहे थे । मैं आपको देख रहा था । क्या आपने इन्हें देखा है ?"

"क्या यह किसीका वास्तविक चित्र है ?"—मैं स्तम्भित था ।

"जी नहीं । यह किसीकी अनुकृति नहीं है । यह मेरे जीवन की सजीवता है । जगत्में ऐसे चित्र कितने ही हैं किन्तु स्थिर होकर देखनेका किसको अवकाश है ? मैंने तो केवल यहाँ उन्हीं चित्रों की एकतानता पकड़नेकी कोशिश की है । अभी तो यह अधूरा है । है न ?"

मैं कुछ ज्यादा नहीं समझ पाया । कुछ थोड़ी-सी घबराहट थी । मैं उसे आगे कुछ कहनेसे रोकना चाहता था—"कलाकार, ये साधारण रंग जब तुम्हारी तूली पर चढ़ कर उतरते हैं, तो इनमें कहाँसे वह रंग, वह मेल, वह धारा आ जाती है जो कटोरियोंमें अलग-अलग पड़ी रहने पर कभी भी नहीं दीखती ? कहाँसे······"

उसने बीचमें ही टोका—"रंग तो आपकी आँखोंमें होता है, धारा विश्वमें व्याप्त है। मेरा चित्र तो केवल उनको केन्द्रित करता है।"

"आपका आध्यात्मिक जीवन बहुत ऊँचा है"—मैंने फिर अपनी बात जोड़नी चाही।

वह हँस पड़ा—"आध्यात्मिक जीवन"—दीर्घ निश्वास फेंकते हुए उसने कहा—"कलाके अध्यात्म और कलाकारके आध्यात्मिक जीवनको कौन देखता है ? व्यवहार जगत् उससे अधिक ठोस है, अतः वही लोगोंकी आँखोंमें धँसता है। चित्रकी नारी तो लोग देखते हैं, पर नारीका चित्र नहीं। किन्तु आप तो देख रहे थे।"

इतनेमें अनिमेष उठ खड़ा हुआ, कलाकारसे पूछता हुआ—"कब आओगे मेरे यहाँ" उसने मेरी बाँह पकड़ ली। उसका सहारा पाकर भी जैसे न उठ पा रहा होऊँ।

कलाकारने कहा—"मैं तो अब बम्बई जा रहा हूँ।"

मैं जब वहाँसे चला, तो पैर मन-मनके हो रहे थे, मन रीता-रीता।

[दो]

शिवाजी पेठके प्रभाकर रावकी लड़की पद्मा सादी तो न थी फिर भी उसे मेक-अपका बेहद शौक था। इतना ही नहीं, रंग-बिरंगे और नई डिज़ाइनोंके कपड़ोंका भी व्यसन था। महाराष्ट्रकी लड़की भारतके सभी प्रदेशोंका लिबास पहन कर भी न अघाती थी। सर पुरुषोत्तमदास कालेजके पीछे ही 'पर्वती' था। इसका नाम पर्वती क्यों पड़ा यह मैं आज तक न समझ पाया। पर्वतके

अभावमें किसी भी ऊँचे टीलेको पर्वत कहनेसे किसीको सन्तोष होता हो, तो पूना वाले यही कर रहे थे। खैर, उसे टीला भी नहीं कहा जा सकता। था तो वह भीतर-भीतर जाती हुई किसी पर्वत-मालाका ही उभरा हुआ रूप। उस पर छोटे-छोटे कई मन्दिर थे। पूनाके लोग प्रातः सायं वायु-सेवनके लिए काफी तादादमें वहाँ जाते हैं। जानेवालोंको आप गौरसे देखिए तो धर्मभीरु प्राणी कम ही होते हैं। वायु-सेवनकी भावना अधिक उभरी हुई मालूम होती है। फिर, कालेजके लड़के-लड़कियोंको, शायद, इनमेंसे किसीसे भी मतलब न था। पर पद्माके विषयमें इतना मैं कह सकता हूँ कि वह दर्शन करने भी जाती थी। उसके चंचल जीवनमें रूपकी अतिशयता और ऐश्वर्यके प्रसाधन भरे तेजसे धर्म-भावनाका समन्वय कैसे हुआ, यह आश्चर्यकी बात अवश्य थी। इतना ही नहीं, उसकी मृदुभाषिता उसके रूपस्नात यौवनमें चाँदनी बिखेर देती थी। उसके कोमल मन और शरीरमें वाणीकी कठोरता टिकती भी कैसे? पर्वतीके नीचे ही पूनाका छोटा-सा चिड़ियाघर है। उसमें बहुतसे जानवर तो नहीं पर कई मृग मृगी सुन्दर हैं। बहुधा वहाँ रुककर पशु-पक्षियोंसे छेड़ छाड़ करती हुई पद्मामें रूप, वात्सल्य और निष्कपट व्यवहारके दर्शन एक साथ ही किये जा सकते थे।

पद्माके पिता रायसाहब प्रभाकर रावजीका कुल ऐतिहासिक था। उनके वंशज महाराज शिवाजीकी नींद सोये थे और उन्हींकी नींद जागे थे। उनके वंशजोंकी बात यहीं छोड़ भी दें तो भी प्रभाकर रावको पूनामें कौन नहीं जानता था। अब तो उन्होंने

बैरिस्टरी छोड़ दी थी फिर भी पूनाके सभी बैरिस्टर उनकी इज्जत करते और वह एक प्रकारसे पूनाके बैरिस्टरोंके कुलगुरु माने जाते हैं। प्रभाकर राव अपने व्यवहार, रहन-सहन, खान-पान और भाषा-भेषमें चूड़ान्त पाश्चात्य सभ्यतामें डूबे रहने पर भी प्रकृतिसे महाराष्ट्र हिन्दू थे। उन्हें चोट देकर कोई बच नहीं सकता था। पद्मा इनकी लाड़ली बेटी थी। उसके आचार-व्यवहारमें पिताके संस्कार उभर आये थे।

ग्रीवाके तनिक नीचे तक पृष्ठभूमि पर लहराते हुए सघन केश, पैंट और ब्लाउजके ऊपर लाल, सफेद ऊनका जैकेट और लाल छींट का सफेद छाता लेने पर भी पद्मा भली और भोली मालूम होती थी। उसके चेहरेका सहज सलोनापन उसके मेक-अपसे भी झाँकता रहता था। उसके हृदयकी निष्कपट भावुकता कभी-कभी उसकी चंचल गतिमें लोच और उलझन पैदा कर देती थी। पिता उसकी ओरसे इतने निश्चिन्त थे कि कभी किसीको कुछ कहनेका साहस भी न हुआ। कुछ दिनों तक लोगोंने उसके नानाविध रूप-विन्यास पर काना-फूसी की, पर प्रभाकर रावके प्रातिभ ऐश्वर्यके तेजके सम्मुख सभी कपटराग राख हो गये। राव साहबके लिए पद्माको बचपनसे ही विदेश भेजकर ऊँचीसे ऊँची शिक्षा देना, न तो उनकी सामर्थ्यके बाहर था और न उनके विचारोंके प्रतिकूल। फिर भी पद्माकी शिक्षा-दीक्षा पूनामें ही हुई, और वह भी, उसने बी० ए० के बाद पढ़ना छोड़ दिया। पिताका प्रेम-विभाजन पद्माके दो छोटे-बड़े भाई भी करते थे। पर पद्मा और पूनाकी दुनियाको ऐसा लगता जैसे पिताकी सर्वस्व पद्मा ही हो। हो सकता है इन्हीं कारणोंसे

वह उसे अपने नेत्रोंसे ओझल न कर सके हों। पर पूनामें उसे एम० ए० तक पढ़ने या उससे भी आगे उसके विद्या-व्यसनको कौन रोक सकता था ? किन्तु पद्माने जब बी० ए० के बाद पढ़ाई छोड़ दी, तब सबको आश्चर्य हुआ।

पद्माके बड़े भाईके सहपाठीके नाते पद्माके पिता मुझ पर भी वात्सल्य कृपा रखते थे। हम सभी उन्हें पद्माके साथ पापा जी कहते थे। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो मैं ऐसी बातोंके पूछने या कहनेका साहस कर जाता जो उनके वृद्धावस्थाके उदार ऐश्वर्य के तेजसे शीतल मृदु मुसकानकी आभा प्रकट कर देता। वे कभी भी मन ऊना नहीं करते, और स्नेहपूर्ण शब्दोंमें उत्तर दे देते। इसका मुझे गर्व था। उनके इसी व्यवहारके बल पर मैंने उनसे एक दिन पूछा—"पद्माको आगे क्यों नहीं पढ़ने देते ?"

"पद्मा जितना पढ़ना चाहे, उसे कौन रोक सकता है। पर, वह अधिक पढ़े बिना भी अच्छी गृहिणी हो सकती है।—उनका गम्भीर उत्तर था।

मुझे जैसे उनके उत्तरसे एक चोट लगी। लगा पद्माका कोमल मन गृहिणीके कठोर व्रतको कैसे लेगा ? क्या उसकी विद्या, उसका रूप और उसका ऐश्वर्य रसोईकी आँचमें तपनेके बाद ही खरा होगा। मनने कहा—"और जो कुछ भी खरा हो, उसका चांचल्य तो राख हो ही जायगा।"

[तीन]

बम्बईकी जिन्दगी केवल महालक्ष्मीके मन्दिरके पुजारियों और बगलमें रेस कोर्सके खिलाड़ियोंकी जिन्दगी नहीं है। सुख-दुःखकी

आँच वहाँ भी लगती है। महालक्ष्मीका कृपा-कटाक्ष सब पर नहीं पड़ता। वह उन्हींको देती हैं जो बदलेमें उन्हें कुछ देनेकी सामर्थ्य रखता है, जिसके अन्दर इतनी हिम्मत है कि उन्हें भी स्वर्ण-मंडित कर दे। फिर भी उनके मन्दिरकी भीड़में सभी शामिल होते हैं। वे भी रहते हैं जिनकी आँख पर नींद नहीं बसती, जो बम्बई को सोने नहीं देते, जिनके कारण बम्बई नगर दिन-रात जागता है। किन्तु अहरह जागने वाले नगरमें भी फुटपाथ पर लोग सोते हैं। ऐसे लोग भी मन्दिरमें जाते हैं। पेट काटकर देवीको प्रसन्न करनेके लिए काँपते हाथों प्रसाद ढोते हैं। कराहते हुए अन्तरसे उनकी चीत्कार निकलती है, पर वह महालक्ष्मीके कांचन कुंडलसे ढके कानों तक पहुँच पाती है अथवा नहीं—कौन जानता है। शायद नहीं। उनकी पुकार अपनी अटपटी भाषामें होनेके कारण सम्भवतः वह समझ नहीं पातीं। तभी तो रत्नोंको झूठा करने वाले पुष्पहार, कभी वाणीसे सार्थक होने वाली रसनाके लिए षट्रस नैवेद्य, और पदतल पर झंकृत होने वाली श्वेत-पीत मुद्राओंको देखते ही देवी स्मित करती हैं, उनके कंठमें पड़ा माल्य खिसक कर भक्तका प्रसाद बनता है और "प्रसीद त्वं देवि" कहता हुआ वह बाहर निकल आता है। भीगी पलकोंसे देखता हुआ दूसरा अपने चढ़ाये प्रसादका कन भी नहीं पाता और लड़खड़ाते पैरों लौट पड़ता है। देवीकी सक्रोध मुद्रासे भयभीत वह अपने वेषको निहारता है। मैली धोती और फटे कुर्तेमें वह क्यों आया? किन्तु इससे क्या स्नान तो उसने भी किया था। देवगण तो हृदय-शुद्धता देखते हैं। उसका हृदय तो शुद्ध है। उसने सिवा खून पानी

एक कर कमाने और बच्चोंके मुखमें नून-रोटी रखनेके और तो कुछ न किया। ऐश्वर्यकी जीवन-मूरिके तो वह नज़दीक भी न गया। उसने तो दूसरेका धन भी अपहृत न किया कि उसको आज यह दण्ड मिल रहा है। फिर किस पापका प्रायश्चित्त वह कर रहा है? सोचता हुआ स्वर्ण-मंडित देहली तक ही लौटा था कि पुजारी ने धक्के दिये—एक बगलसे चल। वह बाहर आ गया। तेज भागती हुई मोटरें, बसें, ट्राम गाड़ियाँ और उन्हींसे होड़ करती हुई मानव पंक्तिके बीच। धरती पर पैर पड़ रहे थे। अपने, बच्चों के और स्त्रीके खाली पेटकी सुधि आ रही थी। वह भी तेजीसे काम पर चल पड़ा।

क्रम चल रहा था।

कलाकार निर्निमेष देख रहा था इस क्रमको। महालक्ष्मीके चित्र अंकित करनेकी साध लेकर आया था मंदिरमें। उसके हाथोंसे तूली गिर पड़ी, रंग झर चुके थे। वह भी लौट पड़ा।

कलाकारको बम्बई आये लगभग एक वर्ष हो चुका था। इस बीच उसके चित्रोंकी दो प्रदर्शनियाँ हो चुकी थीं। बम्बईके प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्तिकी जबानपर कलाकार और उसकी प्रशंसा थिरकते न थकती थी। उसकी कला, जिसमें अनुभूतियोंके सागर-मंथनसे भावप्रवणता और सजीवता आती थी, प्रख्यात हो रही थी। उसकी कृतियोंमें वह अप्रतिमता और प्राण था जिसकी दाद साधारण दर्शक भी देता था। कलाके पारखियोंके लिए तो वह ईर्ष्याका विषय हो ही रहा था। इस प्रकार उसकी कला जन-मनमें रमण करने लगी थी। किन्तु इससे होता क्या था। कलाकी

प्रशंसासे पेटकी ज्वाला नहीं शान्त होती। केवल प्रशंसा अन्न वस्त्र और छाँह नहीं दे सकती। दोनों ही प्रदर्शनियोंमें उनके संयोजकोंने उसके कुछ चित्रोंका मूल्य निर्धारित करना चाहा। पर कलाकार उनका मूल्य रुपयोंमें न बता सका। देखनेवाले उन्हें खरीदना चाहते थे पर किस मूल्य पर ? पूछनेपर यदि कलाकार उपस्थित होता, तो ईषत् मुसकराकर उनकी ओर देखता और देखता चला जाता उनकी तह तक। गाँठके पूरे होनेपर भी वह सभी खोखले सिद्ध होते और वह खिसक जाता दूसरी ओर। पर कभी जौहरी भी आ जाते। तब, "इसका मूल्य आपकी परख है" कहता हुआ वह कृतज्ञतासे भर उठता। उस दिन दर्शकोंमें एक वृद्ध अपनी युवती कन्याके साथ प्रदर्शनी देखने आये थे। वह देखते-देखते एक चित्रके सम्मुख खड़े हो गये। चित्रका शीर्षक था "तृप्ति"। चित्रका शब्द-चित्र तो उपस्थित करना कठिन है पर उसकी भूमिका उपस्थित की जा सकती है। चित्रके रंग चिलबिलाती धूपकी प्रखरता पूर्णतः व्यक्त करनेमें समर्थ थे। सूखी वनस्पतियोंसे भी तपन की आँच निकल रही थी। वृक्षोंकी पत्तियाँ हवाके झकोरे खा रही थीं। पहाड़ीकी चट्टानें जलनेके अतिरिक्त और क्या करतीं। लेकिन दो चट्टानोंका संयोग इस प्रकार हुआ था कि छायाकी शरण ली जा सकती थी। उसके नीचे बैठी युवतीके बालोंकी रूक्षता, उनकी उलझन, तो बताई जा सकती है पर चेहरे पर विषाद को दबाती हुई उपेक्षाकी रेखाएँ शब्दोंमें नहीं उभारी जा सकतीं। छायाके समीप ही मानो चट्टानोंको चीर कर भूगर्भसे बूँद-बूँद जल टपक रहा था। उसके टिकनेका आधार शायद कहीं नीचे था पर

वहाँ तो वह निकलते ही प्रायः विलीन हो रहा था। पुरुष प्यासा था। निदाघ, झंझा और बीहड़पनके उस दृश्यमें उसे कौन-सी भूमिका दी जाय, यह कठिन समस्या है पर चित्रमें उसके मांसल एवं स्वस्थ शरीरसे प्यासकी तड़पन और एकाकीपन स्पष्ट हो रहा था। युवती अपने वस्त्रके छोरको भिगो कर पुरुषके मुखमें निचोड़ रही थी। अञ्जलि भरनेके लिए सम्भवतः इस उपायसे भी पानी नहीं जा रहा था। युवतीकी आँखें पुरुषकी बुझती हुई प्यास देख रही थीं। पुरुषके नयन उसके रूपको पी रहे थे। दोनोंकी आँखों में तृप्ति झलक रही थी।

वृद्ध कितनी देर तक देखते रहे, उनकी युवती कन्या क्या देख रही थी, यह सब कलाकार देख रहा था, और मन ही मन मूक प्रशंसा पर निहाल हो रहा था।

वृद्धने पूछा—"इस चित्रका क्या मूल्य है?" उनकी युवती कन्या कलाकारको देख रही थी। "आपकी प्रशंसा ही इसका मूल्य है"—कलाकारका उत्तर था और वह खिसक गया। वृद्ध और उनकी कन्याको कोई भी उसका मूल्य न बता सका। वे चले गये।

[चार]

अनिमेषने पूछा बम्बई चलोगे? मैं उसके साथ चल पड़ा। पूनासे बम्बई जानेके लिए प्रातःकाल डेकन-क्वीनसे अच्छी ट्रेन दूसरी नहीं। हम दोनों हिलते-डुलते चले जा रहे थे। कुछ दूर

निकल आने पर उसने कहा—"कलाकारको देखने चल रहा हूँ। इन दिनों वह अस्वस्थ है।"

मेरा माथा जैसे ठनक गया। कौन देखता होगा उसे? उसके एकाकी जीवनमें मित्रोंके अतिरिक्त कौन होगा? पता नहीं। उसने विवाह किया अथवा नहीं। लुनावलामें तो मुझे ऐसा लगा कि उसके नौकरके सिवा और कोई न था। उसकी आँखोंसे सूनापन झाँकता था। तस्वीरें तो सुना वह अपनी बेचता नहीं। फिर पैसोंका क्या होता होगा? इसी प्रकार तर्क-वितर्क करते बम्बईका विशाल स्टेशन आ पहुँचा। हम दोनों टैक्सी लेकर सीधे अनिमेषके बताये रास्ते माटुंगा पहुँचे। सीधे दुमंजिले पर चढ़ गये जो कलाकारका फ्लैट था।

वही लुनावलाकी सफाई, वही सुरुचि, वही स्वच्छता। सबसे कलाकारके जीवनकी सुगन्ध सुरभित हो रही थी। कलाकार चार-पाई पर ज्वराक्रांत लेटा था। चेहरा अवाँ हो रहा था। युडी-कोलोनमें कपड़ा तर कर पद्मा ललाट पर रख रही थी। मैंने पद्माको देखा, उसने मुझे देखा। माथेमें सुहागकी लाली देखते ही जैसे सब कुछ स्पष्ट हो गया। पद्मा यहाँ आ गई। सुख, साधन, ऐश्वर्य सब कुछ छोड़कर कलाकी पूजा करने। कलाकारके माथे पर झुकी हुई पद्मा। बाँयें कन्धेसे हिलता हुआ आँचलका छोर, मृदुल गोल बाहोंमें लाल चूड़ियाँ, गृहस्थीके भारावनत शरीरसे दबी एड़ियोंकी लालिमा, कन्धेके दोनों ओरसे लटकती हुई रूखे बालोंकी लटें, कई दिनों तक अनवरत जगनेके कारण लाल हुई आँखें, सब मिलकर पद्माके सौंदर्यमें वह आकर्षण पैदा कर रहे थे जो आजसे

पहले पद्माको ज्ञात न था। कलाकार एकटक उसको, उसके सेवा-व्रतको देख रहा था।

मैंने अपनी दृष्टि उन दोनोंसे हटा ली। सामने दीवार पर लगे चित्रको देखने लगा। चित्रके नीचे लिखा था "तृप्ति।" देखता ही रह गया।

अनिमेषने कहा, "चलो।"

आँखें भर आनेसे अब कुछ भी दीख नहीं पड़ रहा था।

मैंने उसका हाथ पकड़ लिया।

● ●

•• कमाई

[एक]

"भइया जोखू ! ऐसा समय आज तक न आया था ।"

"हमसे क्या पूछते हो महतो दादा, क्या हम तुमसे कुछ उमरमें ज्यादा हैं ? मैं साठका जरूर हुआ पर तुम भी तो तीन बीस पाँचसे कमके नहीं । हाँ, बाबू कहते थे ।"

"क्या कहते थे कि उन्होंने ऐसा समय देखा था ?"—महतो दादाने विस्मयसे बीचमें ही टोका ।

"नहीं दादा, तुम समझे नहीं, वे कहते थे कि उनके बखतमें बापने बेटेकी कमाई नहीं खायी । कहते थे, हमारे बखतमें एक कमाते दस खाते, अब तो घर भरकी कमाईसे भी दोनों जून चूल्हा नहीं जलता ।"

"ठीक कहते थे, अब वह बखत कहाँ ? जैसे लगता है धरती ही बाँझ हो गई । देखते हो, वही गोइड़वाला खेत भइयाके हिस्से पड़ा था और उसीके बल पर रुपिया खलिहानसे अनाज छीटती हुई घर ले जाती थी"--महतो दादाने सर गाड़े ही गाड़े कहा ।

"असलमें यह सब अत्याचारका फल है । पूरापरके महराज कहते थे कि राजाके धरमसे परजा फूलती-फलती है, और जब

राजा ही अधरमी-अत्याचारी हो तब सुखकी कौन आशा।"—जोखूने माथेकी झुर्रियोंको और स्पष्ट करते हुए कहा।

"राजाको क्यों दोष देते हो जोखू, वह तो सात समुन्दर पारसे तुम्हारे ऊपर अत्याचार करने आता नहीं। हम तो यहाँ तक सुनते हैं कि उसको राजसे कुछ मतलब नहीं, उसे तो तनख्वाह मिलती है और उसीमें अपनी गुजर करनी पड़ती है।"—महतोने स्नेह-सा दिखाते हुए कहा।

"तुम भी महतो उसी लालाकी बातोंमें रहते हो। आँखों देखते हो और कानमें तेल डालकर पड़ रहते हो। यदि यह सब उसके अत्याचारका फल नहीं तो अभी समयको क्यों झंख रहे थे। माँने कहा, चिट्ठी भेज दो। भगवान लालासे चिट्ठी लिखवाई और दो पैसेका टिकट लगाया था। अब तो सुनते हैं कि ठाकुरका लड़का कहता था छः पैसेके टिकट लगते हैं—और सुनोगे, स्कूल परके दूबे अखबार लाये थे, पढ़कर सुना रहे थे कि रेलका किराया बढ़ गया, मिट्टीका तेल अब नहीं मिलेगा, बीस मनसे ज्यादा गेहूँ जिसके पास निकलेगा सरकार जब्त कर लेगी। खैर गेहूँ जब्त करने तक तो गनीमत रही। इसमें तो सरकार ही उल्लू बनती। अपने जवारमें तो ऐसा कोई नहीं होगा जिसके पास बीस मन गेहूँ से ज्यादा निकले। लेकिन अब तो परसों सुना खेत ही जब्त हो जायगा। फागूके ससुर आये थे, कह रहे थे कि उनकी ओर तो सब झण्डी वगैरह पड़ गई। घोड़ा लिये सिपाही आये थे, कह रहे थे कि ऊखमें पानी देते रहो, सब घोड़ोंके काम आयेगी। अब

तुम्हीं बताओ, है किसी राजाका नाम याद जिसने अपनी परजाका खेत छीन लिया हो ?"

"सो तो ठीक कहते हो जोखू भइया, किन्तु हमारी यह बात तो तुम्हें माननी ही पड़ेगी कि हमारे ऊपर अत्याचार करने वाले हमारे देशी साहब ही हैं। घूस तुमने किसी अंग्रेज़को लेते सुना है। हमारे लड़कपनमें यहाँ से आध कोस दूर जो साहबवाला बाड़ा है उसमें फारमैन साहब रहता था। फारमैन ! उसके ऐसा न्यायी अंग्रेज़ हमने सुना ही नहीं।" महतोने कहा, और जोखूकी ओर इस प्रकार देखा, मानो कह रहा हो कि भावावेशमें तुम चाहे जो कहो बात मेरी ही सही है।

जोखू और कहने पर तुला था, आज या तो महतो ही उसकी बात माने या वही महतोकी। आज उसने निश्चय कर लिया था कि महतोकी सरकारी तरफदारी छुड़ाकर रहेगा। यदि महतो सीधी तर्कपूर्ण बातोंसे न मानें तो वह महतोकी कुल कलई खोल देगा जिसके कारण वह इतना सरकारी बना फिरता है। किन्तु मार्गसे लाचार हो गया। यहीं तक उन दोनोंका मार्ग एक था। अब महतो अपनी बगियाकी ओर मुड़ पड़े। जोखू और आगे तक उनके साथ जा सकता था, किन्तु ऐसा उसने न किया। उसके बैल कुएँ की ओर मुड़ पड़े थे, उसने भी बहसकी अपेक्षा पूरापर ही जाना उचित समझा। किन्तु वह बड़बड़ाता गया—"इसकी बुद्धि सठिया गई है, मुखिया जो बना है। असलमें भरे पेटको दूसरोंका दुःख नहीं दीखता, अपने गांवमें काई लगते इसीके रुपयेमें देखी। अभी तक कमाईके पीछे जान देता फिरता है। हरकिशोर सिंह जब जेल

जाने लगे तो उनके जुर्मानेका रुपया गहने रखकर भी देनेको तैयार नहीं हुआ। सोचा सूद किस मुँहसे लूँगा, ऊपरसे सीख देने लगा कि भइया घरकी फिकर करो, बाल-बच्चे वाले हो, कुछ हो जाय तो यह किसके ठिकाने लगेंगे। पूछो वह भी तेरे ही जैसे हैं ? उनको तो देश ही अपना घर बना हुआ है।"—इसी प्रकार न जाने और क्या-क्या—बड़ी देर तक बड़बड़ाता हुआ, वह अपने कुएँ पर पूर हांकने चला गया।

[दो]

चीं-चूं करता हुआ जोखूका पूर चल रहा था। उसकी छोटी बिटिया नन्हकी क्यारीमें पानी निरा रही थी, और उसकी पुत्र-वधू जगत पर खड़ी मोट छीन रही थी, गाढ़ेकी चुनरीमें लाजसे सिमटी, मौका निकालकर कभी इधर-उधर भी देख लेती थी। जोखू अपनी पुत्र-वधूको 'बिटिया' और बिटियाको 'नन्हकी' कहता था। उसने एकाएक ऊपर देखकर कहा—"दिन ढलनेको आया। बिटिया, फागू अभी तक न आया। हममें से एकको भी यह ध्यान न आया कि बारहकी गाड़ी चली गई।"

भला और किसीकी बातें होतीं तो बिटिया उत्तर भी देती, फागूका नाम तो सुनते ही आँखें अँगूठे पर जा गड़ीं। वह छुई-मुई-सी बिटिया कुछ न बोली, मोट ऊपर आ चुका था, वह उस ओर लगी।

"बाबू, भूख लगी है। भइया अभी तक न आये। माँ बड़ी पाजी है, आज सबेरे ही उसने मेरे बालमें तेल डाल दिये, मैं भागी

तो कहा कि चल तुझे खाना न दूँगी, बाबू ,अब घर जाऊँगी—" कहती हुई नन्हकी मचलकर डाँड पर बैठ गई, और पैरोंसे नाली का पानी उछालती हुई, किनारेकी दूब नोचने लगी।

जोखूने कहा, नन्हकीने कहा, किन्तु बिटिया ? फागूके देर करनेसे वह क्या सोच रही है ? कुछ सोचती तो होगी ही, किन्तु उसके जाननेका क्या उपाय ? फागू अभी तक नहीं आया, वह झुंझला रही है। पीली बरें जब पानी पीनेके बहाने उसकी उँगलियों पर जा बैठती हैं तो उसकी झुंझलाहट स्पष्ट हो जाती है। वह कुछ-कुछ क्रुद्ध भी है, क्योंकि कभी-कभी उनको मार भी बैठती है। और वह मान भी करेगी, कारण कभी-कभी हल्की-सी स्वाभाविक दृष्टिसे घूंघटके भीतरसे ही घरसे आनेवाली राहको दूर तक निहारती है, और फिर अपनी गरदनको इस प्रकार फिरा लेती है मानो कह रही हो—"अब न देखूँगी। अब बुलाओगे भी तो न बोलूँगी।"

थोड़ी देर तक जोखूने और राह देखी, फिर उसने कहा— "अरे नन्हकी, देख बच्ची, दूसरी क्यारीमें पानी मोड़ दे, और दौड़ जा घर, जा देख तो आज अभी तक फागू क्यों नहीं आया ?"

नन्हकीको मुँह-माँगी मुराद मिल गई। वह गदबदी लड़की लटें बिखेरे भगियाका एक छोर संभालती, डाँडों पर अद्‌भुत कौशल के साथ दौड़ गई। अभी उसको गये कुछ भी देर न हुई थी, कि वह फिर फागूके साथ उसकी उँगली पकड़े उसके पैरोंमें लिपटती हुई-सी दिखाई दी।

जोखूने कहा—"आ तो रहा है।'

बिटियाने सुना ही नहीं, एक कोरसे देख भी लिया, और सिमिट कर अपनेको अपनी आँखोंसे बाँध लिया। जोखूने भी पूर हाँकना बन्द कर दिया। बैलोंको नादके पास छोड़कर नालीका पानी जो एक ओरसे फूट कर बह रहा था बन्द करने लगा, बिटिया भी अपनेको अकर्मण्य पाकर बैलोंको भूसा चलाने लगी।

फागूको समीप आया जान, जोखू जरा गर्म पड़ा। उसने कहा—"काहे रे। आज देर क्यों कर दी? सबेरेसे अभी तक खोपड़ी टनक गई, पर एक दाना मुँहमें न गया। यह तो नहीं सोचा, बूढ़ा बाप मर रहा है। काम करनेको कौन कहे, जूनसे दाना-पानीकी भी सुध नहीं रहती, तुम्हें मटरगस्ती करनेसे फ़ुरसत नहीं तो क्या वह भी मर गई?"

फागू छरहरे बदनका युवक, रंग तो हल्का साँवला था किन्तु खाने-पीनेसे उसमें एक स्निग्धता थी, एक चमक थी और थी एक किसलयता। सोनेकी एक जन्तर काले धागेमें उसके गलेसे चिपकी थी। वह बोलना चाह कर भी न बोला। उसने सोचा, दादा गुस्से में हैं, अतएव वह कलेवा चुपकेसे जगत पर रख कर लोटेसे पानी खींचने लगा। बापकी-सी कुछ और झिड़कियाँ देता हुआ, जोखू खानेमें लीन हुआ, नन्हकी उसका साथ दे रही थी, बिटिया घर जानेको हुई। अब जोखू कुछ शान्त हुआ—"बेटा, बचपन और बुढ़ापेमें कोई फरक नहीं, इन दोनों उमरकी भूख बर्दाश्त नहीं होती"—उसने स्वाभाविक स्थिति पर आते हुए कहा।

"आज ठाकुरके द्वार पर डिप्टी साहब, दारोगाजी और पटवारी बहुतसे चर-चपरासियोंको लिये आये थे।"—वह अभी इतना ही

कह पाया था कि जोखूने चौंक कर कहा—"क्या गाँवमें कोई वारदात हो गई है ?"

"नहीं-नहीं, वारदात क्या होगी ? और जो हो भी तो इतनी जल्दी कोई तार थोड़े ही लगा है, जो शहर तक खबर हो जाय और ये लोग आ पहुँचें ? बात यह थी कि स्टेशनके पास वाली ज़मीन सरकार जप्त कर रही है।"

"यहाँ भी ये लोग पहुँच गये ? हरगिज नहीं। मैं ऐसा नहीं देख सकता। ज़मीन जप्त करके उपवास करानेके पहले भिगो-भिगो कर मारनेके पहले उन्हें चाहिये कि एक ही दिन मार डालें। वे वैसा करें या न करें कमसे कम मैं तो रो-रोकर मरनेके लिए तैयार नहीं।" जोखू और कुछ कहता कि फागूने कुछ झुंझला कर कहा—"दादा, सुनो भी तो ये लोग तुम्हारी जमीन जप्त नहीं करने आये हैं। डिप्टी साहब सबको समझा रहे थे कि फी आदमी आठ आना मिलेगा। तुम सबको काम करना चाहिये। जापानकी भी बहुत-सी बातें बता रहे थे। पटवारीसे कहा—'तुम परसों इस गाँवसे पचास आदमी लेकर हाजिर हो।' उसने कहा—'हुजूर इसी समय लिख लिया जाय मैं नाम बता देता हूँ।' पहले तो डिप्टी साहब कुछ उस पर बिगड़े, फिर बादको उसने धीरेसे कहा, तब बोले—'अच्छा लिखो।' उसने नाम तो पचाससे भी ज्यादा बोले, और तीस-पैंतीस आदमी जो उसमेंसे वहाँ थे उन्होंने हामी भी भरी। हामी क्या भरी, असलमें महतो दादाने समझाया तब कुछ लोग राजी हुए। उन्होंने लोगोंको अलग बुला कर कहा—'आजकल कमाई-धमाईका हाल बिगड़ा है, कहीं किसीको कुछ भी

नहीं मिलता। इतना मिल रहा है क्या कम है, अरे घरसे बहुत दूर भी नहीं जाना है।' हमारा भी नाम पटवारीने लिखा दिया है। मैं करता ही क्या, चुप था।"

अब तो जोखूसे न रहा गया। उसने कड़ककर कहा—"यह दुष्ट महतो जब तक रहेगा कुछ भी न होने देगा। न जाने लोग उसकी बातोंमें क्यों आते हैं? जो कुछ भी उल्टा-सीधा समझा देता है, समझ लेते हैं—वहाँ इतने जन थे, किसीकी बुद्धिमें यह तनिक सी बात न आई कि वह सोचें कि इसके भीतर क्या भेद है? तूने अपना नाम क्यों लिखने दिया? दौड़ा हुआ मेरे पास क्यों नहीं आया? अच्छा, गाँवमें इतनी बात हो गई और मुझे पता तक नहीं। देख, तू मुझसे बिना कहे उस दिन मत जाना और यदि गया तो फिर ठीक न होगा।"

बिटिया तो घर चली गई। जोखू खाकर उठा तो बैलोंको चुमकारा। फिर दोनों पूर हाँकने लगे। किन्तु जोखूकी तबीयत लगती न थी। कभी भी बैलोंको न मारने वाला जोखू इतनी देरमें कई बार उनकी पूँछ जोर-जोरसे ऐंठ चुका था।

थोड़ी देर बाद फागूने शांति भंग की। उसने कहा—"आज शामको ठाकुरके द्वार पर जमाव होगा।"

"जरूर होना चाहिए। मैं चलूँगा और पहले ठाकुर भैयासे पूछूँगा कि उनकी क्या राय है, और यदि उनकी राय मुझसे ठहर गई तो देखूँगा, फिर कौन काम पर जाता है। महतो महतो हैं तो गाँठके हैं, कुछ साँठके नहीं। आदमी भी क्या रुपया है, जो औचट पर खोलकर दे देंगे। इसीमें तो महतोकी मुखिया-

गिरी खुलेगी। आज जोखूको कामकी चिन्ता न थी। उसने चार बजते न बजते पूर खोल दिया, बैलोंको छटका, सामान फागूपर छोड़ घरकी राह ली।

ठाकुर, ठाकुर भइया, अथवा ठाकुर हरकिशोर सिंह एक ही व्यक्तिके तीन पर्याय है। पहले दो नाम ही गाँवमें अधिक प्रचलित हैं। पक्षी अपने तृण-संवलित नीड़ोंमें सान्ध्य गीत गाने लगे किन्तु अभी तक ठाकुर भइयाके द्वार पर जमाव नहीं हुआ। कृषक खेतों से घर तभी लौटता है जब सन्ध्याका यौवन प्रौढ़ताको पार कर ढलनेकी ओर झुकता है। तभी उसे घरकी याद आती है। अन्यान्य मनोरंजन-विहीन, एकरस कृषकका मन चंचल हो उठता है। उसमें क्षण भरके लिए चपलता आ जाती है। ऐसा लगता है कि अब यदि वह घर नहीं पहुँचेगा तो उसकी कोई अमूल्य वस्तु खो जायगी।

फिर भी, और आयें चाहे नहीं, जोखू तो आज बहुत पहले आ गया था। वह तो पूर छोड़ सीधे ठाकुरके ही द्वार पर आया। हरकिशोर सिंहसे उससे क्या बातें हुईं यह नही कहा जा सकता। पर वे दोनों ही लोगोंके आनेकी प्रतीक्षा कर रहे थे। एक एक, दो-दो, लोग आ भी रहे थे, और धीरे-धीरे चिलम तमाखूकी खोज भी होने लगी थी। देहातियोंमें यह एक अजीब-सी बात है। हँसी-खुशीमें, गम-शोकमें, मेल और झगड़ेमें, चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, हर समय यहाँ तक कि राम-राम और पालागन तकमें चिलम तम्बाकू और सुर्ती चूनेका अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। जेठकी जलती दुपहरीमें किसी नागरिकके यहाँ जाइये

और वह ठण्डे जलकी खोजमें हो जायगा। किन्तु देहातमें चाहे आपकी देह अवाँ हो रही हो, कण्ठ सूख रहा हो पहले तम्बाकूसे ही आवभगत होगी, खाना मत दीजिये तम्बाकू दीजिये। लाख समझाओ, मिन्नतें करो, तर्क उपस्थित करो, भाषण दो, उपदेश दो किन्तु इसमें व्यवधान नहीं आ सकता। स्वयं हरकिशोर सिंह नशीली वस्तुओंका व्यवहार नहीं करते और कई बार उन्होंने तत् विरोधी आन्दोलन भी किया पर उसका फल यह है कि आज उन्हें ही इस जमावको सफल बनानेके लिए उन वस्तुओंका आयोजन करना पड़ रहा है।

आकाशके तारागणोंके साथ ही साथ ठाकुरके द्वार पर भी लोग जमा हो गये। हरीकेनका मन्द प्रकाश और उस पर जिसमें लाल तेल जल रहा हो लोगोंका मुख स्पष्ट देखनेमें अधिक मदद नहीं दे सकता। किन्तु उस छोटी सी भीड़के एक सिरे पर खड़े हरकिशोर सिंह हैं यह साफ दिखाई पड़ता है। वहाँ उपस्थित सब उनकी बात नहीं सुनेंगे। कुछ तो तम्बाकूके लिए आये हैं, कुछ सुर्तीके लिए। कुछ "तनी हाल-चाल देख आईं" के लिए आये हैं।

हरकिशोर सिंहने कहा—"महतो दादा, अब बताओ क्या करना चाहिए? अरे भाई गाँवके मुखिया हो, जब गाँव पर कुछ भलाई-बुराई आये तो धर्म कहता है कि तुमसे राय लेनी चाहिए। हम जो इतने इकट्ठे हुए वह इसीलिए कि तुम देशकाल देख चुके हो, तुम्हें लाभालाभका अनुभव है, हम तो भावावेशमें आकर

कुछका कुछ भी कर सकते हैं, लेकिन तुम तो ठीक बता सकते हो कि इस समय हमारा क्या कर्त्तव्य है।"

"हम क्या बतायेंगे भइया, हम तो बुड्ढे हो गये न, तुम लोग जो समझो, करो। हाँ, फिर भी इतना कहे बिना मन नहीं मानता, कि वहाँ जाकर कुछ कमा लेनेमें मुझे कोई बुराई नहीं जान पड़ती, आगे जैसी तुम लोगोंकी मरजी"—इतना कह महतो चुप हो रहे, किन्तु मुद्रा उन्होंने ऐसी बनाई, जिससे एक ओर तो परवशता, और दूसरी ओर तिरस्कार, दोनों साफ झलक रहे थे।

हरकिशोर सिंह कुछ कहें न कहें कि जोखू उठ खड़ा हुआ, ठाकुरने चाहा कि जोखू अभी कुछ न कहे पर उसने अपनी बाँह बलात छुड़ा, कहना प्रारम्भ किया।

'जोखूकी यह हिमाकत है। वह ठाकुरसे कुछ क्या ज्यादा जानता है? अब यही तो छोटे मुँह बड़ी बात होती है। ठाकुर कह लेते तो कहता तो क्या छोटा हो जाता। अरे तुम अपना दरजा भी तो देखो, चले ठाकुर बाह्मनकी बराबरी करने। कुछ करतब भी हो कि बोल लेनेसे ही ऊँचे हो जाओगे—कुछ इसी प्रकारके भावोंसे लोग आक्रांत हुए, और तब लोगोंको जोखूका इस प्रकार बढ़ना बुरा लगा।

लेकिन जोखूने कहा—"मेरे भइया लोगो, महतो दादाने कहा कि इसमें कोई बुराई नहीं कि इस बुरे समयमें भी जब चार पैसेकी रोजी मिल रही है, तो फायदा उठा लेना चाहिए। मैं भी इस बातको मानता हूँ, किन्तु क्या तुमलोगोंने इस बातपर भी सोचा कि मजदूर तुम्हारे गाँवसे क्यों बुलाये जा रहे हैं, मैं पूछता हूँ

कि महतो दादाकी ज़मीनका एक भी टुकड़ा दबा होता तो क्या वे जाते ? और जाकर जिस ज़मीनसे कभी गुड़-गेहूँ पैदा किया उसीमें मिट्टी पाट पलस्तर करते ? माना कि हमारे गाँवकी एक धुर भी ज़मीन नहीं है, किन्तु क्या हमारा यही कर्त्तव्य है कि पड़ोसीके घरमें चोर घुसते देख हम और उसे सबरी दें ? इस प्रकार तो एक दिन सारा गाँव ही लुट जायगा, और कोई किसीकी मदद न करेगा। इसीलिए मैं चाहता हूँ कि कल इस गाँवसे कोई काम पर न जाय। और इसी तरह सब गाँवोंने किया तो फिर देखें बिना नुकसानी दिये सरकार हमारी ज़मीन कैसे जप्त कर सकती है ?"

बात लगती हुई सी और सच्ची थी, शायद स्वयं महतो दादा पर भी इसका बखूबी असर हुआ, किन्तु खैरखाहीने जोर मारा और वे उठ खड़े हुए—"भाइयो, जोखू भइयाने जो कुछ कहा है सही है, इसमें एक भी बात झूठ नहीं, किन्तु क्या इससे यह निश्चय हो गया कि हम लोगोंके काम पर न जानेसे वहाँ अन्य एक भी आदमी काम पर न आवेगा ? हममेंसे बहुतोंको इस समय पैसेकी बड़ी जरूरत है, क्या हमारी यह भलाई देखकर उस गाँव वाले हमारे दिनों-दिनके उपवासको आधा भी बँटावेंगे ?"—इतना अलम् था। इतनेसे ही देहातियोंकी स्वार्थ-बुद्धि जग गई। यदि जोखू की सचाई उनके दिलसे हटी नहीं तो कम से कम उस समय के लिए उसे भूल अवश्य गये। महतो और कहते और शायद कुछ अकाट्य तर्क भी उपस्थित करते, पर इसी बीच जमीन्दार .और पटवारी दोनों आते दिखाई दिये। महतोने झुककर सलाम

किया। जोखूने सलाम किया। ठाकुर चारपाई मँगानेमें व्यस्त हुए और लोग धीरे-धीरे खिसकने लगे।

जमीन्दारने पूछा—"क्या है महतो, आज तुम्हारे गाँवमें यह कैसी पंचायत है ?" जवाब जोखूने दिया—"सरकार कुछ नहीं, यही बात हो रही थी कि हवाई अड्डे पर काम करनेके लिए आदमी माँगे गये हैं। आप जानते ही हैं कि आजकल भराई-सिंचाईका दिन है, लोग खाली नहीं हैं। फिर भी क्या करेंगे, सरकार आपका हुक्म थोड़े ही टालेंगे।"

एकाएक जोखूका यह रंग देख उसकी चापलूसी और दब्बू-पनेको देख लोगों परसे उसका रहा-सहा असर भी समाप्त होगया। हर जगह आगे बढ़-बढ़कर बोलने पर अबकी हरकिशोरको भी बुरा लगा। जब तुम्हारेमें इतनी हिम्मत नहीं, कि हर जगह एक ही स्वर से सच्ची बात कह सको, तो क्या जरूरत आगे-आगे बोलनेकी ? अबकी ठाकुरने उसकी ओर कड़ी दृष्टिसे देखा। लोग अब कुछ शीघ्रतासे खिसकने लगे। सभा अपने आप विसर्जित हो गई।

सबेरे आठ बजते-बजते हवाई अड्डेके लिए चुने हुए स्थान पर भीड़ हो गई। हजारों आदमी थे। थोड़ी-सी पुलिस थी। बन्दूकें कुछेकके हाथमें थीं पर अधिकांश लठबन्द ही थे। यह पुलिस गोली चलानेके लिए या किसी और खास कामके लिए यहाँ नहीं बुलाई गई थी। यह तो सरकारके स्वाभाविक गतिके अनुरूप ही था। सरकारका कोई काम हो, लाल पगड़ीकी आवश्यकता अनिवार्य हो उठती है। फिर यहाँ तो उसे फौज

रखनी है। लोगोंकी जमीन पर बिना मुआवजा दिये कब्जा करना है। फिर भी आश्चर्य है कि इतने बड़े कामके लिए कुल इतनी ही पुलिस।

... ...

"हुजूर ये लोग हट नहीं सकते। मैं काफी समझा चुका"—दारोगा जीने डिप्टी साहबसे कुछ रुखाई लिये हुए कहा।

"तो फिर क्या किया जाय?"—स्फुट स्वरमें अपने-आपसे ही डिप्टी साहबने कहा—"तो फिर कुछको गिरफ्तार कर लीजिये।" उन्होंने पुनः कहा—"हुजूर आप कितनोंको गिरफ्तार करेंगे।"

भीड़ ज्योंकी त्यों थी। उसके आगे कुछ सौ आदमी लेटे और बैठे थे। जो दो चार खादी पहने हुए थे वे कांग्रेसजन थे। रह रहकर "इन्कलाब" "बन्दे मातरम्" और "हम अपनी जमीन नहीं छोड़ेंगे" का नारा बुलन्द हो उठता था।

एकाएक दारोगा जी आये। उन्होने जोरसे कड़क कर पूछा—"इन असहयोगियोंका नेता कौन है?" कोई आवाज उत्तरमें न आई। उन्होंने फिर पूछा—"तुम लोग यहाँ क्यों आये? तुम लोगोंको यहाँ कौन ले आया?"

अब उनमेंसे एकने कहा—"हमें हमारी जमीन यहाँ ले आई।"

"चलो तुम्हें डिप्टी साहबके सामने चलना होगा"—दारोगा जीने कहा।

"जाकर डिप्टी साहबको यहीं भेज दीजिये। हम यहाँसे तिल भर भी न हटेंगे"—उसने पूर्ववत् कहा।

दारोगा जी के मनमें तो आया—'हाथका छोटा डण्डा मार दूँ और इसकी खोपड़ी दो टूक हो जाय, गुस्ताख कहीं का।' किन्तु, यह विचार चर्खीकी नाईं मस्तिष्कके भीतर ही घूमकर रह गया। बाहर क्रियामें परिणत न हुआ। वे मुड़ पड़े।

"हुजूर परिस्थिति काबूमें नहीं आ सकती। ये सरकश हैं–" साहबसे दारोगा जीने अर्ज किया।

डिप्टी साहब आदमी सीधे लग रहे थे। अधिकार-प्रमादकी सुंघनी अभी नहीं सूंघी थी। खुद घटनास्थलकी ओर चल पड़े।

"तुम लोग क्यों सरकारी काममें बाधा डालते हो?"

"हम लोग अपनी ज़मीन न देंगे। यही हमारा जीवन है, इसकी पूर्ति कुछ रुपयोंसे नहीं हो सकती। यदि हमसे जबर्दस्ती की भी गई तो बिना मुआवजाके हम कभी भी न देंगे। बिना मुआवजा दिये तो हमारी जमीन लेने वालोंको हमारी लाशें भी लेनी पड़ेंगी।" —उत्तर था।

"मुआवजा तो तुम लोगोंको देनेका वादा किया जा रहा है। पटवारी कागज बना रहे हैं। तैयार हो जाने पर मुआवजेकी दर मालूम हो जायगी। लड़ाईके बाद पूरा मुआवजा मिल जायगा।—" साहब बहादुरने कहा।

"सब कुछ हो जायगा! हम इतने दिन हवा पीकर रह जायँगे, मानो आदमी नहीं साँप हुए! कभी बिना नाश्ता किये

कचहरी गये हैं ? दिनमें छः बार खाते होंगे। एक बार भी कमी पड़ जाय तो सर दर्द करने लगता है।"

साहब सीधे आदमी तो थे। सब कुछ सह सकते थे किन्तु एक अदने आदमीकी मुँह-ठोठी नहीं बरदाश्त कर सकते। बिगड़ कर कहा—"इसे पकड़ लो। और आदमियोंको लाठी मार कर भगा दो।"

दारोगा जी तो यही चाहते थे। पुलिसवालोंकी लाठियाँ भनाभन घूम गईं।

आज हीसे हवाई अड्डे पर काम लगनेवाला था और उसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ। हर तरफसे पटवारियोंने आदमी बुलाये थे। ठीकेदारोंने अपना ब्यौरा बाँधा था। महतोके गाँवके भी आदमी आये थे। महतो खुद नहीं आये थे। उनका जवान लड़का आया था। इनके पहुँचनेके पहले ही गाँववाले, जिनकी जमीन दब रही थी, पहुँच गये थे। हर कोईसे उन्होंने हाथ जोड़ कर कहा—"भइया, इस जमीन पर काम करनेके पहले हमारी गरदनों पर काम कर जाओ। पहले तुम्हारे हथियार इस पर चलें।"—और इस प्रकार उनकी अपीलने बड़ा काम किया। आज अधिकांश व्यक्ति जो काम करने आये थे, उनकी ओर मिल गये।

फलस्वरूप लाठी चार्ज हुआ, कुछ घायल हुए। एककी अवस्था बड़ी शोचनीय हो गई। कई पकड़े गये और आजका काम समाप्त हुआ।

दो दिन बाद।

दो दिन फिरसे पटवारियोंको घूमना पड़ा। कई जगह डिप्टी साहब खुद गये। इधर आज साहब कलक्टर भी आये। आज गोरी पलटन भी बुलाई गई थी। ठेकेदारोंने मजदूरोंको सामान बाँट दिया। आज काममें कोई बाधा नहीं दिखाई पड़ रही थी। मजदूरोंसे अलग हट कर करीब सौके कुछ आदमी खड़े थे। क्रिया-हीन, संज्ञाहीन, निश्चेष्ट, एकटक।

लोग अपने-अपने कामों पर लगने ही वाले थे कि उन शान्त और निष्क्रिय आदमियोंमें से एक आगे आया। अपने विस्मयको नहीं दुनियाके विस्मयको लेकर वह आगे आया, जिसकी किसीको उम्मीद न थी, वह आगे आया।

उसने कहा—"भाइयो" और चुप हो गया। एक बार उसने अपने चारों ओर दृष्टि फेरी और कहने लगा—"आज तुम सीतापुर के खेतों पर कुदाली नहीं चला रहे हो, आज तुम कुदाली अपने पेट पर चला रहे हो, वह कुदाली अंग्रेज़ी सरकारकी है, आज चला लो, कुछ न मालूम होगा। दस दिन बाद इसका घाव दिखाई पड़ेगा, ऐसा घाव जो कभी नहीं पुजता।"

उस बुड्ढेकी आँखोंमें अजीब चमक थी। उसकी चूने सी सफेद भौंहें चंचल हो उठी थीं, उसकी गम्भीर गिरा निर्घोष कर रही थी। वह बूढ़ा था, हाँफ रहा था, क्षण भर रुका और फिर कहने लगा—"आज मैं कहता हूँ, आज मेरी बात मानो, सदा उल्टी-सीधी बातें कीं और सदा तुमने माना, आज सही बात कहता हूँ। क्या आज न मानोगे? आज मेरी आँखोंका परदा हट गया है। जिस ममताके पीछे मैं बदनाम था, अब वह टूट चुकी

है"—वह रो पड़ा, किन्तु फिर सँभला, उसमें एक गर्मी आ गई थी। उसने कहना आरम्भ किया—"पैसोंके लिए मैंने सदा सचाई पर परदा डाला, किन्तु आज अब नहीं डालते बनता। आज तुम्हारी आखें बन्द हैं, किन्तु मेरी खुली हैं। मुझे तुम्हारी कुदालियोंमें ही तुम्हारा विनाश दिखाई पड़ रहा है। तुमने अपने गाँवको ही देश समझा, किन्तु वह तो बहुत बड़ा है।" उसमें अद्भुत वक्तृता शक्ति आ गई थी—"मैं नहीं जानता मैं कैसे मना करूँ, किन्तु मैं मना करता हूँ, मान जाओ, और अपने ही पेट पर कुदाली न चलाओ।"

सचमुच उसके शब्दोंमें क्या था, किन्तु उन्होंने जादू-सा असर किया। सौ आदमियोंकी जमात अब तीन हजारकी थी। एक क्षणमें अब वहाँ कोई मजदूर न था, सब महतो थे।

सब महतो थे, सब महतो दादाके कहनेमें थे। "महतो दादा" एक ऊँचाई पर खड़े थे, क्या यह वही महतो दादा हैं?

खेमेमें सनसनी फैल गई। अधिकारी, फौज और पुलिसके साथ आ पहुँचे, महतो दादा कह रहे थे······

"वह है बदमाश जो बहका रहा है"—"बेंतका इशारा करते हुए साहब कलक्टरने कहा—"पकड़ो उसे।"

पुलिसवाले भीड़में घुसे ही थे कि मजदूरोंकी कुदालियाँ उठ गईं। वे लाल पगड़ियों पर पड़नेवाली ही थीं कि आवाज आई—"फायर।"

महतो दादा कह रहे थे—"आजके चार दिन पहले मैं कमाई की सीख दे रहा था। मैंने जिन्दगी भर वही किया। आज

भी वही करने जा रहा हूँ, वह कमाई तो हाथ न लगी, शायद यह लगे।"

तड़तड़की आवाज हुई, फिर कई बार हुई। लोग भग चले और दस मिनटके अन्दर वहाँ कोई भी न रहा।

हवाई अड्डे पर अब भी काम हो रहा है। किन्तु इधर आस-पासके गाँवोंका कोई भी आदमी उस पर काम नहीं करता। आज न महतो हैं और न उनका जवान लड़का। उसीके लिए सारी जिन्दगी उन्होंने कमाई की। पर आज उनकी आखिरी कमाईसे उस जवारकी ताकत बढ़ गई थी। वह चरित्र-बलमें पहलेसे अधिक समृद्ध थे। दूसरे गाँवके लोग भी जब महतो दादाके गाँवसे गुजरते हैं, तो उनकी चर्चा अवश्य छिड़ जाती है।

•• दो बतखें

डा० मोहन शंकरका परिवार बड़ा था, समृद्ध था और सुपठित। चिकित्सा शास्त्रके वे अच्छे पंडित तो थे ही, साथ ही उन्होंने साहित्यका भी खूब अध्ययन किया था। वह जीवनमें रस लेते थे और पैसेको अधिक महत्व नहीं देते थे। रोगियोंकी चिकित्सा और अस्पतालकी नौकरीसे जो समय बचता उसे वह साहित्यके अध्ययन और संगीत-श्रवणमें ही बिताते थे। कभी भूले-भटके क्लब चले जाते थे, पर वहाँ उन्हें आनन्द नहीं आता था। वह मित्रोंसे मिलना तो चाहते पर उनका बनावटीपन उन्हें अच्छा नहीं लगता था। कपट-रागसे दूर रहने वाले डा० मोहन शंकरको क्लब के वातावरणमें सुख नहीं मिलता था। मित्रोंके बहुत आग्रह पर भी वह हर सम्भव उपायसे वहाँ जानेसे बचनेकी कोशिश करते। इस बातको लेकर कभी-कभी अंतरंग मित्रोंसे भी उसकी अनबन हो जाती थी। पर उनका स्वभाव ऐसा था कि फिर उनके मित्र पानी-पानी होकर उन्हींके पास आ जाते थे। फिर घर पर खूब हँसी मजाक, खाना-पीना चलता था। वही डा० मोहन शंकर जो क्लब में कभी शराब छूते भी न थे, घर पर पीने-पिलानेसे कभी न हिचके। उनके विवेककी लोग दाद देते थे। उनकी स्पृहाहीन सदाशयता सबको मोहती थी। उनका नेक स्वभाव किसीकी बुराई नहीं सोचता

था और यही कारण था कि उनकी मित्र-मंडली बहुत बड़ी थी और सभी उनके अच्छे और सच्चे मित्र माने जाते थे।

डा० साहबका घर भी हँसती-बोलती चिड़ियोंका घर था। मुझे यह नहीं मालूम कि डा० साहबको केवल एक लड़का और छः लड़कियाँ होने पर कैसा लगता था, पर उनके घर आने-जाने वालोंके लिए, चाहे वह उनके मित्रोंमेंसे हों, रोगियोंमेंसे हों, अथवा यदा-कदा आने-जाने वालोंमेंसे हों, सपत्नीक डा० साहब और उनके सात अपत्य स्नेहके पुतले थे, सलोने थे, और हास-परिहासके खिलौने थे। सारे दिन उनके घरमें हँसीका गुबार फूटता रहता था, और रात भींगने पर ही कुछ देरके लिए सन्नाटा हो पाता था। कभी-कभी उनकी पत्नी सावित्री डा० साहब पर स्नेहसे भर कर झुँझला पड़तीं और कहतीं—

"या तो तुम घर पर रहते नहीं और रहते हो तो सारा घर सर पर उठाये रहनेमें ही तुम्हें मजा आता है। बच्चोंको इतना शोख करना क्या कोई अच्छी बात है ?"

डा० साहब मुसकराते और कहते—"इस उम्रमें अपनी शोखी तो देखो। बच्चोंको रोकती हो ?"

सावित्री ईषत् झेंपके साथ हँस पड़तीं—"तुम्हें कभी भी बात का सही जवाब देना न आया।" यह उलाहना भी उनका होता, और फिर दोनों ही अपने बच्चोंका आमोद-प्रमोद देखनेमें जुट जाते। डा० साहबकी थकान यों ही दूर हो जाती। कोई भी उन्हें उस समय देख कर यह नहीं कह सकता कि यह सबेरे ७ बजेसे शाम ५ बजे तक अनवरत काम करके लौटे हैं। उन्हें चाय-पानी

की भी धुन नहीं होती, भले ही सावित्री खानेके कमरेमें चाय सजाये आधे घण्टेसे बैठी हों।

प्रतिवर्ष डा० साहब एक महीनेकी छुट्टी लेते और कभी पहाड़ों की सैर करते, कभी समुद्र तट पर निवास करते, कभी जंगलोंकी सैर करते, पर कामसे छुट्टी लेते जरूर थे। अपने साथ अपने परिवारको भी ले जाते और यदि कभी कोई मित्र-परिवार भी चलना चाहता तो डा० साहब फूले न समाते थे। बहुत दिनों साथ रहनेकी जरूरत नहीं थी। कुछ दिन डा० साहबके नज़दीक रहकर यह कोई भी जान सकता था कि डा० साहबको जल और जलाशय प्रिय थे। महीने भर समुद्री किनारोंके स्थानोंमें रह लेने पर भी, वापस आते समय डा० साहबको ऐसा दुःख होता मानो कोई प्रियजन छूट रहा हो। वहाँ रह कर भी समुद्र-स्नान उनका नित्य-कर्म हुआ करता था। यही कारण है कि जिस वर्ष वह समुद्र-तटकी ओर नहीं जाते, ऐसे पहाड़ी स्थानों या जंगलोंकी सैर करते जहाँ जलाशय हों। मेरी मुलाकात तो उनके इसी क्रममें नैनीतालमें हुई थी।

सन् १९४८ का साल था। डा० साहब सपरिवार नैनीताल आये थे। झीलके किनारे माल रोडकी दूसरी तरफकी पहाड़ी पर थोड़ी ऊँचाईसे उन्होंने एक मकान ले रखा था। डा० साहब, सावित्री, उनका १० वर्षका लड़का सुधीर और उनकी छः कन्यायें भी उनके साथ थीं। उनके बच्चोंमें लड़का ही सबसे छोटा था बाकी सभी लड़कियाँ उससे बड़ी, और सबसे बड़ी लड़की मोहिनी २४ वर्षकी हो चुकी थी। उसी वर्ष उसने अपना अध्ययन भी

समाप्त किया था। लखनऊ विश्वविद्यालयसे वह एम० ए०, एल्-एल्० बी० की उपाधि प्राप्त कर, पिता और बहनोंके साथ नैनीताल आई थी। उसकी छोटी बहन कामिनीने उसी वर्ष बी० ए० किया था। उससे छोटी बहन शकुन्तला बी० ए० प्रथम वर्षमें थी। चौथी बहन मालती और उससे छोटी माधवी और सुधा क्रमशः इण्टरमीडिएट और हाई स्कूलकी परीक्षा देकर आई थीं। इन तीनोंके परीक्षाफलोंकी उत्सुकता सभीके चेहरों पर थी।

सबेरे नौ बजेसे लेकर रात नौ बजे तक आप किसी समय भी, फ्लेट हो अथवा माल रोड हो, झील हो अथवा झीलका किनारा हो, क्लब हो अथवा रेस्तरां हो, कहीं भी निकल जाइए इनमेंसे सबसे या कुछसे भेंट हो जाना अनिवार्य था। ये लोग सबेरे जलपानादि कर अपने घरसे निकल पड़ते। यहाँ तक कि डा० साहब स्वयं ९ और १० के बीच घोड़े पर अपने मरीज़ोंको देखने जाते। कारण यह था कि वह जब भी नैनीताल आते उनके परिचित-अपरिचित मरीज उनका आना जानकर उन्हें ही बुलाते थे। जिस दिन मरीजों के यहाँ न भी जाना होता, वह घुड़सवारी करते थे। फिर किसी रेस्तरांमें बैठकर कुछ चाय-काफी होती। उसके बाद वह नौका-विहार अथवा थाटिंगके लिए निकल पड़ते। यह भी नौका-विहारका आधुनिक रूप है और बड़ा ही दिलचस्प होता है। पालदार नावें झीलकी छातीपर नानाविध नर्तन करती हुई ऐसी फिसलती हैं कि देखते ही बनता है। साढ़े बारह तक खाली होने पर किसी होटल या 'बोट हाउस क्लब' में ही खाना होता। तीन बजे किसी सिनेमा या बाजार हाटमें यह लोग दिखाई पड़ते। फिर घर लौट जाते

और थोड़ी ही देरमें सजधजकर नीचे उतरते। तब रात नौ बजे तक घूम-फिर कर वापस लौटते।

इनकी रोजकी इस दिनचर्यामें कोई परिवर्तन न होते हुए भी इनमें मनहूसियत नहीं थी। इसका एक कारण था। एक तो इनका स्वयंमें अपना एक समाज था। दूसरा समृद्ध होनेके कारण पैसोंकी कोताही नहीं थी, और प्रकृतिकी दी हुई इनकी सुन्दरता और स्वास्थ्य पर आधुनिक अलंकरणोंके उपादान इनके आकर्षणमें गगनकी निःसीमता भरते रहते थे। मृदुस्वभावके कारण ये लोग जिससे भी मिलते अपनत्वकी वह छाप देते जो अमिट होती थी। एक ही घरमें सुधीर, सुधा, माधवी, मालती, शकुन्तला, कामिनी और मोहिनीके कारण विविध वेष-भूषा, स्वभाव और समाजका बड़ा ही मोहक रूप मिलता था। विभिन्न प्रदेशोंका पहनावा, खान-पान और नाना विषयोंका अध्ययन उनका स्वभाव था। इस विविधताके होते हुए भी वह डा० मोहन शंकरके उदार स्वभावसे निरन्तर झरती हुई मृदुताके सूत्रमें न केवल स्वयं आबद्ध थे वरन् दूसरोंको भी आकृष्ट करते और अपने स्नेह-सूत्रमें पिरोते रहते थे।

सन् ४८ में क्लबमें डा० साहबसे यों ही मुलाकात हो जानेपर मैं उनके परिवारका अंग कैसे बन गया इस पर बराबर ही सोचता रहा हूँ। पर आज यह पहेली, यह समस्या, कुछ ऐसी दर्दभरी हो गई है कि जितना ही उससे दूर भागनेको जी चाहता है उतना ही वह स्पष्ट हो सामनेसे हटना ही नहीं चाहती। वह अपना समाधान और सुलझाव चाहती है और मैं कि उस पर टिकना ही नहीं चाहता। ऐसा लगता है जैसे इस पहेलीके छोरको छूते ही कोई

मर्मको कचट देता है, पलकें गीली हो जाती हैं, पर आह तक निक-लने नहीं पाती।

डा० साहब और उनके परिवारसे परिचय हुए आज ९ वर्षोंसे ऊपर हो गये। जबसे जाना उनके घरसे मोहिनीसे किंचित् वयस्क होनेके नाते सबसे बड़े लड़केके समान ही आदर मिला, स्नेह मिला और सबसे बढ़कर मिला उनका विश्वास। सन्' ४८ के बादसे डा० साहब भी अपने परिवारके साथ प्रतिवर्ष अब नैनीताल ही आते और मैं भी बम्बईसे प्रतिवर्ष नैनीताल आने लगा। मेरी इन्श्योरेंसकी कम्पनी मुझे जन-सम्पर्कके लिए प्रतिवर्ष भी यहाँ भेजनेमें आनाकानी नहीं करती थी। इसे मैं अपना सौभाग्य मानने लगा था। यों तो सारा देश अपना है और अच्छे आदमियोंकी कमी कहीं भी नहीं है, पर अपने परिवार से भी बढ़कर डा० साहबके परिवारको अपना मानने लगा था और आज भी दावेके साथ कह सकता हूँ, कि यदि कभी भी कम्पनीने मुझे यहाँ आनेसे इन्कार किया होता तो शायद यही होता कि मैं आता जरूर चाहे इस्तीफा ही देकर आता।

डा० साहब और उनकी पत्नी बराबर ही मुझे खत लिखतीं और जब कभी भी उनकी कोई समस्या होती, मेरी राय जरूर ली जाती थी। उनके परिवारका ऐसा एक भी सदस्य नहीं था जो मुझे अपना न समझता रहा हो। पर सबके रहते हुए भी मोहिनी ही ऐसी थी जो बराबर पत्र भी लिखा करती थी। सन्' ५२ में मेरे विवाहके अवसरपर डा० साहबने जो उपहार भेजा था वह मेरे जीवनकी अमूल्य निधियोंमें-से है। पर मोहिनीने केवल एक

पत्र भेजा था। आज वही मेरे जीवनका अविस्मरणीय, अनिर्वचनीय और अनव्याख्यायित संधिपत्र बन गया है। शायद वह अब मेरे जीवनके साथ ही शेष रहेगा। उसने मुझे लिखा था—"प्रेमकी व्याख्या नहीं हो सकती, वह प्रकाश नहीं सहनकर सकता। वह अव्यक्त और उदार है। वह अजन्मा भी इस दृष्टिसे है, कि उसका कोई कारण नहीं। उसकी उत्पत्तिकी कुंडली इसलिए नहीं बनायी जा सकती कि उसके उद्भवके क्षणको न पकड़ा जा सकता है, और न पहचाना जा सकता है। एक बार उत्पन्न हो जानेपर उसका लय नहीं, अवसान नहीं। पर मंगल-घटके सामने अग्निको साक्षी मानकर सूत्रों और रंगोंसे सजाया गया प्रेम भी वेद मन्त्रोंसे पूत हो ही जाता है। अपौरुषेय वेदोंका आशीर्वाद पाकर वह भी इतना सशक्त, समन्वित, शुभ और जीवनमय हो जाता है कि सांसारिक बाधाएँ, विपत्तियाँ उसे नष्ट नहीं कर सकतीं। वह पार्थिव शरीरके नष्ट होनेपर भी, बहुधा ही अपार्थिव रूप धारणकर लेता है और चिरसंगी कहे जानेवाले युग्ममें-से एकके अलग हो जानेपर भी दूसरा उसकी पवित्रताको, उसकी स्मृतिको, संजोकर जीवनभर बाँधे रहता है। मैं तुम्हारे इसी परिधान वाले जीवन-प्रवेशके अवसरपर बधाई देती हूँ और परमात्मासे प्रार्थना करती हूँ कि तुम दोनों सुखी रहो।" इत्यादि इत्यादि।

मैं इसे पाकर फूला न समाया था, और मेरी पत्नी कमलने इस पत्रको पढ़ा तो वह भी इस स्नेहमयी नारीको देखनेके लिए आकुल हो उठी थी। पिछले ४–५ वर्षोंसे मेरे साथ वह भी इस परिवारकी अभिन्न बनी हुई हैं और सावित्री तो अपनी इस बहूको

देखती ही रहती हैं। मैं नहीं जानता कि कमलकी अपनी सास होतीं तो वह भी इसे इतना ही प्यार करतीं। लेकिन कमलको जो कुछ यहाँ मिला, विशेषकर सावित्री और मोहिनीसे, वह उसके लिए अथोर था और वह उसमें ऊभचूभ होती रहती थी। मोहिनी-की छोटी बहनें भी अपनी भाभीको सजानेसे लेकर बेवकूफ बनानेमें अपने रसमय संसारको अतृप्त ही रखती थीं। उनके परिहास-सागरमें कल्पनाओंकी बाढ़ बराबर ही बनी रहती थी। कमल चकित मृगी-सी चौंकती रहती, इस परिवारके आकुल प्रेमको देखकर और कभी पूछती—

"क्या यह लोग भी इसी संसारके प्राणी हैं? क्या इनका व्यवहार भी मानवीय है? इतना स्नेह यह कहाँसे बाँधकर आये हैं जो इनके मुक्त-हस्त बाँटने पर भी बढ़ता ही रहता है। क्या इनके लिए अपने परायेमें कोई भेद नहीं? यदि देव ऐसा व्यवहार न करते हों तो मैं कहूँगी कि हम मानव देवोंसे अच्छे हैं। और यदि देवोंकी भी सामर्थ्य इतना ही स्नेह देनेकी हो तो वह मानवसे बड़े नहीं। इस परिवारके स्नेह और व्यवहारको देखकर मैं तो सोचती हूँ मानव ही देवोंको देवत्व प्रदान करता है। देवगण स्वयं में कुछ नहीं जो सबमें मनुजता भी नहीं भर सकते।"

मैं हँस देता। कमल मेरे अंकमें समा जाती, और हम दोनों को दुनियाँमें मानवकी उस दिव्य ज्योतिके दर्शन होते जो देवोंको भी कान्ति देती है, उनका शिल्प बनती है और जिसे वह ऊपर से ललचायी दृष्टिसे देखते रहते हैं। हम मनुष्य अपनी इस ज्योतिको वापस न कर लें, उसे छिपा न लें, शायद इसी डरसे वह हमें प्रसन्न

करनेके लिए नानाविध उपाय करते रहते हैं, सुखोंके प्रसून बिखेरते हैं स्वास्थ्यका उपकरण देते हैं। पर मनुष्य भी ऐसा है कि उनकी इतनी अभिलाषाओंको, उनके इतने अरमानोंको ठुकराकर एक दिन यकायक चल देता है, वह मुँह ताकते रह जाते हैं, शोकाकुल होते हैं, सिर धुनते हैं, सोचते हैं कि मनुष्यका वह वरदान जो उन्हें देवत्व प्रदान करता है फिर कैसे मिलेगा ?

दो-तीन साल लगातार नैनीताल ही आते रहनेके कारण एक साल डा० मोहन शंकरने उस मकानको खरीद लिया जिसमें वह ठहरते थे और तबसे वह "मोहन विला" नामसे जाना जाता है। आज उसी "मोहन विलाके" आगे छोटे उद्यानमें सभी बैठे हैं। प्रायः वही चहल-पहल भी है। सावित्री भी हैं और उनकी सभी लड़कियाँ और सुधीर भी। सावित्रीके दो जामाता भी आये हुए हैं। मैं भी हूँ और कमल भी। यदि कोई नहीं है तो डा० मोहन शंकर, और सावित्रीकी सौभाग्य रेखा। गत वर्ष नैनीतालसे जाते ही डा० साहबका अचानक हृदयकी गति रुक जानेसे देहान्त हो गया था और अभी इस घटनाके पूरे वर्ष भी नहीं हुए थे कि यह परिवार यथावत् यहाँ आया और अपने जीवनकी सामाजिकताको, उसके संयमको, और दूसरोंको मिलनेवाले स्नेह-भाण्डारको अक्षुण्ण बनाये हुए है। यह उन लोगोंके विषयमें यों ही टाल देने वाली बात नहीं, फिर भी मेरा ध्यान आज दूसरी ओर है।

पिछले ९ वर्षोमें मोहिनीने विवाह नहीं किया और आगे भी वह न करेगी, इसमें अब किसीको सन्देह नहीं। उसके स्वभावमें रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं आया है और कमल, उसकी प्रिय भाभी,

उसके स्नेहमें वैसे ही प्लावित हो रही है। पर जाने क्यों सबके सब कुछ करते हुए भी आज मोहिनी कुछ सोच रही थी। उसका ध्यान न तो परिवारकी बातचीत पर था और न ही मेरी ओर। मैंने देखनेकी कोशिशकी पर कुछ समझमें न आया। केवल दूर तालकी छाती पर दो सफेद बतखें तैर रही थीं। मैं उसकी इस गम्भीरताको देख ही रहा था कि उसने सहसा मुझे देखा। उसके इस देखनेमें जाने क्या था कि मैं झनझना उठा। ५ वर्ष पूर्व भेजे हुए उसके पत्रकी प्रत्येक पंक्तिसे दूसरे अर्थ निकलने लगे। शायद उसके अक्षर और अर्थ ही मेरी आँखोंसे आँसू बन झरने लगे। मोहिनी भी उठ खड़ी हुई। मैं भी दूसरी ओर चला गया।

● ●

• • दुःख होगा

नदीके किनारे घुटने तक पाँव पानीमें डाले राम् जल थपथपा रहा था। शायद् विचारोंको पकड़ना चाहता था, पर वह तरंगोंके समान उठते और तिरोहित होते जाते थे। सर पर घड़ा रखे कासनी आई और रामूकी ओर बिना देखे ही पानीमें उतरती चली गई। रामूको जलके गांभीर्यका पता था। उसने टोका—"कासनी आगे न जाओ, फिसल जाओगी।" कासनीने मुड़ कर देखा, रामू मुसकरा रहा था। ईषत्-स्मितके साथ कासनीने कहा—"डूब ही तो जाऊँगी।" रामू खिन्न हो उठा। उसने भारी स्वरसे कहा—"मुझे बहुत दुःख होगा!"

नदीके गर्भमें हजारों जल-जन्तु रहते हैं। उनमेंसे कितने मरते, कितने जीते हैं, क्या इसको लेकर नदी दुःखी होती है?"—कहती हुई कासनीने अपना घड़ा उठाया और कमर पर रखती हुई चल पड़ी। जाते हुए उसने रामू पर स्नेहभरी दृष्टि जरूर डाली, पर रामू उस ओर नहीं देख रहा था। वह जलके प्रवाहमें पैर लटकाये उसकी धार देख रहा था, उसकी शीतलताका अनुभव कर रहा था। बंशी उसके हाथसे छूट कर अलग पड़ चुकी थी। वह खो-सा रहा था, जब कासनीने अपने भेद भरे वाक्य कहे थे। पैरोंको यथावत् ही रखे उसने बंशी पानीसे बाहर निकाल कर फेंक दी और गुनगुनाया।

"नदीको जरूर कष्ट होगा। जब वह इतने जीवोंको पालती-पोसती है, तो क्या वह इतनी ममता-हीन है कि उसे दुःख ही न होता होगा ? सबसे बड़ा दुःख तो उसको उस विवशताका होता होगा, जिसके कारण जो जब चाहता है उसकी मछलियाँ मार ले जाता है। तभी तो उसने मगर, घड़ियाल और बड़े मच्छ पाल रखे हैं। आँधी और तूफानसे नाता जोड़ रखा है। फिर भी लोग उसकी भावनाओंको बिना समझे-बूझे अपने स्वार्थ-साधनका सहारा बनाते ही रहते हैं। पर नदीको किसका सहारा ? भगवान्का ? नहीं उसका भी नहीं। होता तो क्या वही समय-असमय सूखा डालता, बाढ़ लाता और नदीको कभी सुखा कर रेत और कभी सागर बनाता रहता ? बेचारी न अपने सुखसे कभी जीती है, और न अपने सुखसे मरती है। ऐसी ही तो है प्रकृतिकी विड-म्बना। पर क्या वह उन सब जीवोंको जो उसमें निवास करते हैं एक समान ही प्यार करती होगी ? शायद हाँ, शायद नहीं।"

रामू शायद इसी 'शायद' के चक्करमें आ फँसा था कि सूरज माथे पर चमकने लगा। धूप तेज़ होती देख वह चलनेको उद्यत हो गया, पर कहता गया—"नदी उस बड़ी मछलीको, जो बीचमें फुदकती है जरूर ज्यादा चाहती होगी। तभी तो उसे किनारे नहीं आने देती। गरमीमें जब सूख जाती है तब भी अपनी पतली धार के आँचलमें छिपाकर उसे दूर बहा ले जाती है, और फिर पानी बढ़ने पर अपने साथ वापस लाती है। नीरू मछुआ भी कह रहा था कि वह उसकी ताकमें पिछले तीन बरसोंसे है, पर आज तक न मिली।"

रामू, रामप्रसाद सान्यालका छोटा नाम था जिसे चुनारकी विस्थापित मंडलीने उसके और अपने लिए युगपत् सुगम मानकर चुन लिया था। बादको चुनारकी उत्तर प्रदेशीय मित्र-मंडली भी उसे इसी नामसे जानने मानने लगी थी, और वह बंगाली है अथवा बंगालियोंमें भी विशेष वर्गका सूचक सान्याल है, यह सब भूल गये थे। यहाँ आकर वह वर्गहीन समाजका वह अंग हो गया था, जिसे सब प्यार करते थे, सब चाहते थे कि वह फले-फूले पर उसकी शाखें और डालें किधरसे फूटेंगी अभी इसकी चिन्ता किसीको नहीं थी। रामू अपनी बड़ी बहनके साथ सन्' ४८ के प्रारम्भमें कलकत्ते से लाया गया था। उसने सुना नहीं था, देखा था अपने उस विशाल वंशका वह वैभव जो नोआखालीके जगत-प्रसिद्ध होनेके पूर्व उसका था, अपना था और जिसकी शीतल छायामें सगे संबंधियोंसे लेकर अज्ञात कुलशीलके युवक और युवतियाँ भी नाना स्थितिसे शीतलता का अनुभव कर रही थीं। पर वह उन दिनोंकी स्मृतिको किस पर प्रकट करे। बहिन कल्पनाका भी विवाह मेरठके एक बंगाली युवकसे हो जानेके बाद उसको दुनियांमें पुराना कुछ भी न रहा जिसकी वह याद करे, जिसके लिये वह रोये और हँसे। कल्पना का विवाह भी शायद ही होता यदि वह अत्यन्त सुन्दरी न होती। अन्यथा अन्य बंगाली विस्थापितोंके रोग-दोष उसे भी आत्मसात् कर लेते और कल्पना फिर रामूकी कल्पना ही रह जाती। रामूको इसका तनिक भी दुःख नहीं था कि विवाहके बाद न तो कल्पना और न उसके बहनोई, कोई भी, उसे अपने यहाँ आनेका आमंत्रण क्यों नहीं देते। उसे कल्पनाके यदाकदा पत्रोंसे ही सब सुख-

संतोष मिल जाता था। बाकी उसका अपना समाज बन चुका था और उसे बहुत आगेकी परवाह भी नहीं थी। उसे तो अब राम प्रसाद सान्याल कहे जानेमें भी बजाय सुखके उलटे पीड़ाका ही अनुभव होता। उसे अतीतके परदे पर ताज़े ताज़े चित्र दिखाई देते। उसके मनमें उन्हें पकड़ने और अपना कहनेको जी उकसने लगता था। यही कारण था कि लोग उसे अर्द्ध-विक्षिप्त भी मानते थे। कारण अक्सर ही रामप्रसाद सान्याल कहे जाने पर अथवा पुरानी बात निकल आने पर उसका व्यवहार, उसकी हरकतें एकदम विपरीत और उसके वर्तमान समाजके समझमें न आनेवाली हो उठती थीं। उसके चेहरेसे दैन्यका भाव लुप्त हो जाता था। दयाकी पात्रता समाप्त हो जाती और उसके स्थान पर आ जाती गर्व और गौरवकी आड़ी-तिरछी रेखायें। वह अपने वर्तमान समाज के कतिपय वयस्क और समृद्ध कहे जाने वाले व्यक्तियोंको भी अपनी दानशील शक्तिका रीता परिचय देनेके लिए विकल हो उठता। पर शीघ्र ही कुछ सोच-समझ कर चुप रह जाता। अपने को बदल लेता और फिर स्वाभाविक रीतिसे लोगोंके साथ हँसने-खेलने लगता।

रामूको चुनार आये ४ वर्षसे ऊपर हो गए थे जब उसकी कासनीसे भेंट हुई। कासनी चुनारकी लड़की नहीं थी। वह अपने माता-पिताके निधनके उपरान्त चुनारमें अपने मामाके घर आई थी। उसके मामा चुनारके अच्छे संगतरासोंमें से थे। जिस दिनसे वह आई, रामू और उसकी मित्रता बढ़ती गई। कासनीके मामा बैजूके घर ही प्रायः रामू रहने लगा था। यों तो सरकारने विस्था-

पितोंकी सारी व्यवस्था की थी पर रामूको बैजूके घर रहनेका एक विशेष प्रयोजन हो गया था। रामूके पिता रजनीप्रसाद सान्याल बड़े ही पटु और प्रसिद्ध मूर्तिकार थे। उन्हें केवल इसका शौक था, व्यसन था, उन्हें व्यवसाय नहीं करना था। रामूमें यह गुण, मूर्तियोंकी परख और कल्पना, पैतृक सम्पत्तिके रूपमें मिली थी। रामूने चुनार आकर देखा कि बैजू ही ऐसा है, जो पढ़ा-लिखा न होने पर भी रेखाओंका धनी है। तनिक सी बातको पकड़ना जानता है। केवल नकल ही नहीं करता उद्भावनाएँ भी कर सकता है। इसीलिए रामूका अधिकांश समय बैजूके दालानमें ही बीतने लगा था। बैजू भी ऐसा, कि रामूकी हर बात मानता। भले ही उसके दूसरे पेशेवर कहते—'वह अपना हाथ बिगाड़ रहा है।' बैजूको उस दिन रामू पर अटूट श्रद्धा हो गई, जिस दिन वह अपनी योंही बनाई देवीकी एक मूर्ति बनारस ले गया था। पत्थरका दाम जोड़कर उसे अधिक-से-अधिक १०० रु० भी मिलनेकी आशा न थी, पर विश्वनाथ गलीमें अपने पुराने गाहककी दुकान पर मूर्ति रखकर वह प्यालियाँ दिखाने और गिननेमें लगा था, कि एक महाराष्ट्रीय सज्जन उधरसे निकले और मूर्तिको देखते ही ऐसे ठिठके कि फिर उनसे आगे बढ़ा ही न गया। उन्होंने आगे बढ़कर दूकानदारसे दाम पूछा ही था कि बैजू मुँह खोलने लगा। दूकानदार आदमी पहचानता था। बैजू न आदमी, न मूर्ति। उसके सहसा बोलनेके पूर्व हो दूकानदारने कहा—"महाराज आज ही बनकर आई है। जिसकी मूर्ति है वह शाम तक आनेको कह गया है।" महाराष्ट्रीय ग्राहकने आग्रहपूर्वक कहा—"अगर यह

मूर्ति वह ५०० रु० तक देनेको कहे, तो तुम मेरी प्रतीक्षा सन्ध्या ७ बजे तक अवश्य कर लेना।" वह बार-बार मूर्ति देखता और नेत्रोंसे सराहनाकी अजस्र धारा छोड़ता चला गया। दूकानदारने बैजूसे कहा—"आगेसे यदि मूर्ति बनाना तो सिवा मेरे और किसी दूकान पर ले जाना। उसका दाम कल आकर ले जाना। ५०० रु० तो तुम्हारे हो ही गए, ऊपर जो लूँगा वह मेरे।" तभी बैजूको पता चल गया था कि रामू क्या है, रामूकी राय क्या है। उसकी परख सबसे ऊँची थी, अतः बैजू सब कुछ करनेको तैयार था पर रामूको छोड़ना नहीं चाहता। रामूको भी क्या चाहिए था। कासनी अब एक और बहाना हो गई थी। जो कुछ उसके पास था, उसे अब कोई वापस दे नहीं सकता था। उससे अधिक अब शायद परमात्मा भी देनेको प्रस्तुत न हो। अतः रामूकी दुनिया बैजूके दालान और विस्थापितोंकी बस्तीके बीच बस गई।

उस दिन फिर रामूकी तबियत दिन भर किसी काममें न लगी। वह कुछ खिन्न-सा भी रहा। वह बताना चाहता था कि नदीको दुःख होता हो अथवा नहीं यदि वह नदीके स्थान पर होता तो उसे जरूर दुःख होता। कासनी उस दिन फिर दिन भर रामूके पास न आई। रामू सोचता रहा कि काश! ऐसा हो पाता कि उनकी पुरानी समृद्धि, उसका पुराना समाज चाहे कुछ ही क्षणके लिए क्यों न हो एक बार फिर जुट जाता तो वह दिखा देता कि उसकी छायामें रहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति पर वह समान रूपसे स्नेहकी वर्षा कर सकता था। पर यह सब न होनेका। कासनीकी बातका जवाब भी न मिलनेका। दिन ढल गया, शाम होनेको आई। नित्यकी

भाँति रामू आज भी घरसे चल पड़ा पर वह बैजूकी दालानकी ओर नहीं, गंगा तटकी ओर भी नहीं, वह किलेकी ऊँची दीवारोंकी ओर जा रहा था। गंगा तट पर भी कासनी नित्य जाती थी। बैजूकी दालानमें भी वह मिल ही जायगी। बैजूकी लड़की ही जो ठहरी। वह उन स्थानोंसे नहीं जायगा जहाँ उसकी कासनीसे भेंट हो। वह पूछे अथवा न पूछे पर उसके प्रश्नका उत्तर है और एक ही उत्तर है कि "दुःख होगा।" कासनी माने चाहे न माने, पर दुःख होगा। रामू अगर नदी होता तो उसे जरूर दुःख होता—बार-बार यही दुहराता रामू ऊँचे तक चढ़ गया जिसके आगे दीवारें थीं, राह नहीं थी।

रामू वहीं बैठ गया। उसका मन विषण्ण हो चुका था। सोचते-सोचते थक चुका था पर कोई रास्ता नहीं। वह नीचेकी ओर देखने लगा। किलेसे नीचे उतरती हुई राह निर्जन और चपटी पड़ी हुई थी। उस पर कोई भी नहीं चल रहा था। दूर चुनार स्टेशन पर मालगाड़ियोंके डिब्बे दिखाई दे रहे थे, फिर भी रामूको राह नहीं मिल रही थी। वह विकल हो उठा। सोचने लगा कि मैं यहाँ क्यों हूँ। मेरा अपना समाज नहीं, भाषा नहीं, भाव नहीं, फिर यहाँ बैजूकी दालानके आसरे वह क्यों टिका है। बैजू बुड्ढा हुआ। उसके आँख मूँदते ही उसकी दाल-रोटीका सहारा भी छूट जायगा। दूसरे संगतराश उसे पास भी न फटकने देंगे। फिर वह क्या करेगा?

दिन गया, दिनमान गया, रजनीकी आँखें जगमगाने लगीं, पर रामू न उठा। मिर्जापुरसे आती हुई गाड़ीने जोरसे सीटी दी

तो जैसे रामू चौंक उठा। कलकत्तेकी ओर जानेवाली गाड़ी ही तो है। वह उठा। चुनार अब उसे नदीके समान टेढ़ा-मेढ़ा लगा। उसका समाज, उसके जीव-जन्तु सब उसे खलने लगे। एक रामूके क्या रहने, क्या न रहनेसे, उसके चले जानेसे किसीको भी दुःख न होगा। वह चलनेको उद्यत हो गया। यकायक उसे कासनीकी याद आई।

आवाज़ आई—"दुःख होगा"

उसने मुड़कर देखा, तो कासनी पीछे खड़ी थी।

दोनों साथ-साथ उतरने लगे।

● ●

•• विवशता दोनों ओर

"विवश मानव कितना हीन होता है कि अपने दुःखको, अपने अवसादको भी प्रकट करनेमें कठिनाईका अनुभव करता है। मानव सामान्यतः एषणाओंसे पराभूत रहता ही है, अतः इच्छाओं और अरमानोंका होना सबके लिए स्वाभाविक भी है, और उचित भी। पर विवश प्राणी इच्छाओं और अरमानोंकी दुनियांमें रहकर भी उसकी बात नहीं कर पाता। उसके लिए वह सब उपहासका कारण बन जाती है। फिर उपहासका भय उसे इतना सताने लगता है, कि वह दुःखी होनेके सुखसे भी वंचितकर दिया जाता है। वह अपनी भावनाओंका प्रकाश नहीं कर पाता। दो बूँद आँसू भी उसके लिए वर्जित कर दिये जाते हैं। उसके रुदन और दूसरोंके हाससे कोई प्रयोजन न हो यदि हँसनेवाले अपने सुखसे हँसें और उसे रोने दें, अपने दुःखमें। तब भी उसे शान्ति मिल जायगी। पर यह सब नहीं होता। दुनियाँको खाली गुदगुदानेमें ही मजा नहीं आता, रुलानेमें भी आता है। किन्तु विवशताकी भी एक सीमा होती है। उस सीमापर पहुँचकर कभी तो वह उसकी जंजीरको चूर-चूरकर संसार और समाजके लिए आदर्श बनता है, पथिकृत बनता है और मानवको वह संदेश दे जाता है जो सदियों तक उनका प्रकाश और संबल बना रहता है और कभी वह इस प्रकार पतनोन्मुख होता है कि फिर कभी भी नहीं

उठता। समाजका कलुष ऐसोंसे ही फलता-फूलता है। कहावत है—'सोना छूते मिट्टी हो जाता है', उसी प्रकार ऐसी अवस्थामें गिरते हुए प्राणीसे सभी सहारे दूर हो जाते हैं। वह तमससे घोरतर तमसमें प्रवेश करता है। ज्योतिर्मयके दर्शन करनेमें उसकी आँखें असमर्थ हो जाती हैं।"

चंदन सोच रही थी। खीझ रही थी अपनी विवशतापर। दूर, बहुत दूर, क्षितिजपर सन्ध्याकी छाया स्पष्ट हो रही थी। आकाशके एक कोनेमें, प्रतिपल नया विधान बन रहा था। कार्तिककी साँझमें नमी आ गई थी। गेहूँ, चने और मटरके सींचे खेतोंकी हरियाली आँखोंको सुखकर प्रतीक होती थी। क्षितिजके किनारे धूल और धुआँ अव्याकृत हो गए थे। ढोर घरोंको जा रहे थे। पक्षी अपने नीड़ोंमें बसेरेके लिए आकुल थे, पर चन्दन यह सब कुछ नहीं देख रही थी। वह अपनेमें बेसुध थी। विकल थी पीड़ासे, पर बेजबान आँखें आँसू भी नहीं बहा पा रही थीं। सहसा उसमें चेतना आई और फिर सोचने लगी—

"इसी सन्ध्याकी प्रतीक्षा तो वह कर रही थी। क्यों ? उसे अन्धकारकी आवश्यकता है। ऐसे निविड़तम अन्धकारकी जिसमें उसे स्वयं अपना हाथ भी न सूझे। वह ऐसे ही अन्धकारका सहारा लेकर अपने अरमानोंको सदा सर्वदाके लिए गाड़ देना चाहती है। अरमानोंकी समाधि बनाना ही कठिन है, फिर उस पर बैठना क्या किसी योगसे कम होगा ?"—वह सिहर उठी। वह निश्चय करने लगी, कि अब वह न सोचेगी। इच्छाविघातिनी बनकर जीनेसे इच्छा-विहीन होना कहीं श्रेयस्कर होगा। उसके हाथ नदी किनारे-

की गीली मिट्टी खोदने लगे। उसे असह्य पीड़ा हो रही थी। शायद इसी समय पीड़ाको भी अपने अरमान निकालना बाकी था। वह फिर निश्चेष्ट हो गई। लगा जैसे पीड़ाकी इस क्रीड़ासे ऊबकर, थककर, वह शिथिल हो गई। जाने कितना समय बीत गया। वह जगी। देखा सामने तृतीयाका चन्द्रमा उदय हो गया था। उसकी वक्रतामें मंगलकी यूति। आकाश निरभ्र था। नदीके जलमें बड़ी हल्की-हल्की लहरें उठ रही थीं। उसका मन नदीकी लहरियों पर पुनः थिरकने लगा। उसने अपने केशोंको खोलकर कन्धों पर फैला दिया। अँगुलीसे मिट्टी कुरेदकर माथेपर उसने चाँद की समतामें एक पंक्ति खौर दी। फिर बीचमें मिट्टीकी ही एक बिन्दी लगा ली। जलकी ओर निहारा, वह चञ्चल था। उसकी छाया पकड़नेमें असमर्थ। उसने कहा—"उँह, वह चलेगी अपने इंगित पथ पर। लोग हँसते हैं, हँसें; अँगुलियाँ उठाते है, उठाएँ। पर वह झूठो प्रतिष्ठाकी ज्वालामें अब न जलेगी। यह मनके अवसादको निकाल कर ही रहेगी।"

उसका विवेक जगने लगा। उसने अनुभव किया कि उसके शरीरमें फिर रक्तका संचार हो रहा है। उसमें पुनः गर्मी आ रही है। उसका मन हल्का हो रहा था। वह फिर ऊपरकी ओर उठने लगा। उसकी विचार-शक्ति फिर उसकी शक्ति बनने लगी, और वह उठ खड़ी हुई।

"क्यों? सोच चुकी? देख चुकी ढलते हुए सूर्यको? चन्द्रमा भी वक्र बन गया? आओ, अब मैं तुम्हें दिखाऊँगा वह प्रकाश

जो अपना है। जो उधार माँगा नहीं है।"—कहता हुआ जीवन उसे कन्धोंसे सम्भाल कर गति देने लगा।

"तुम यहाँ कबसे हो? तुम यहाँ क्यों आए?"—चन्दन दोनों प्रश्न एक साथ ही पूछकर भी प्रकृतिस्थ न हो पाई थी, कि जीवन फिर कह उठा—

"चन्दन! जब तुम्हें पहले-पहल देखा था, तभी सोचा था, कह दूँ कि तुम चन्दन बनी रहो, मुझे केवल पानी बनने दो। पर उस समय न साहस ही हुआ, और न अवसर ही था। इतने दिनों हम दोनों प्रायः साथ रहे। मैं बराबर सोचता सोचता रहा कि मुझे तुमसे यह कहनेका क्या अधिकार? तुम कौन हो जो मैं तुमसे ऐसा कहूँ? जाने कितने ऐसे होंगे जो तुमसे यही कहनेके लिए उत्सुक होंगे। फिर मैं उनसे आगे क्यों दौड़ूँ? मुझे लोगोंके साथ दौड़ना अच्छा नहीं लगा। अपनी राह चलनेका आदी अपनी राह चलता रहा। पर तुम भी साथ-साथ चलती रहीं। न तुम हटीं न मैं हटा। इतने दिनों निरन्तर हम-कदम चलनेमें गति मिल गई। मैंने देखा कि तुम वह हो जिसे खुद नहीं मालूम कि मैं क्या हूँ। मैंने कई बार सोचा कि तुम्हें बताऊँ पर लगा कि यह ओछापन होगा। और फिर यह बतानेका साहस वह करे जो यह जानता हो कि वह क्या है? अतः मैं अपनेको ही समझता रहा और देखता रहा तुमको। ज्यों-ज्यों देखा 'यही देखा कि जो सत्य है वही सुन्दर है और वही शिव भी। पर आँख टिकती न थी क्योंकि मैं कालके प्रवाहमें जो बहता जा रहा था! सोचता था कालकी गतिको रोकनेकी सामर्थ्य नहीं तो क्या उसका अति-

क्रमण भी नहीं हो सकता था ? लगा हो सकता था। फिर समझमें आया कि सृष्टि अनन्त है और इसकी अनन्तता इसीमें है कि जो इसका आदि है वही अन्त भी। फिर इसमें इतनी विविधता कहाँ से आई ? मालूम हुआ कि यह स्वभावजन्य है, मनःप्रसूत है। तो क्या तुम्हारी वास्तविक सत्ता नहीं ? क्या तुम केवल मेरी कल्पना की रानी हो ? यदि ऐसा ही है तो फिर तुम चन्दन कैसे और मैं पानी क्या ? लेकिन जी कहता था कि नहीं, तुम चन्दन हो और मैं पानी बनूँगा।"

दोनों नदी-किनारे फिर बैठ चुके थे। चन्दन उसके घुटनों पर सर रखे उठते हुए चाँदको देख रही थी। जीवनके पैरोंके पंजे पानीमें थे। चन्दनके खुले हुए बालोंकी छोर पानी पर तिर रही थीं। उसके माथे पर बने हुए मिट्टीके चाँदका पानी सूख गया था, अतः उसमें भी चमक आ गई थी। जीवन चन्दनके चाँदको देख रहा था, और सोच रहा था—

"कैसे भी थे वे दिन जो बीत गए। वह यूनिवर्सिटी बन्द होनेपर घर चली जाती थी। मैं वहीं होस्टलमें बना रहता था। वस्तुतः मेरा कोई घर था भी नहीं, घर किसको कहता ? घरकी परिभाषा भी नहीं सोच पाता था। अब भी नहीं सोच पाता हूँ। लोग विवाह करते हैं, बच्चे होते हैं, उनके सुख दुःखके साधनों के समुच्चयको घर मानकर उसीमें घिरे रहते हैं। मैं अब भी समझता हूँ अच्छा ही करते हैं पर मुझे इसकी आवश्यकता न थी। क्योंकि राखमें आग छिप सकती है पर राख ईंधन नहीं बन सकती। मैं राख हो चुका था फिर भी मुझमें आग छिपी थी।

इसीलिए मैं चन्दनके पास नहीं आया कि कहीं मुझमें छिपी आग उसको भी न राख कर दे। मैं जानता हूँ कि वह कहेगी—"उसी समय क्यों न जला दिया कि इस जलनेसे बच जाती" और मैं यह भी जानता हूँ, कि चन्दन जलकर भी सुगन्ध ही फैलाती। पर जलना-जलाना लकड़ीका काम है। राख लकड़ीसे अच्छी कि खुद जल नहीं सकती और आगको भी दबाये रखती है। पर मैंने देखा कि विवश होकर आगका दबाना भी अच्छा नहीं। उससे तो कहीं अच्छा कि आगको भभकने दें। क्योंकि आगमें गर्मी है, चमक है और खरा करनेकी ताकत है। आगमें लौ है और लौ में सौन्दर्य।"

उसने चाहा कि वह चन्दनसे पूछे कि क्या उसने लौके सौन्दर्यको देखा है? कितना शाश्वत सौन्दर्य होता है उसमें। आगकी लौ और उसका सौन्दर्य वही होता है, भले ही स्थान और पात्रके भेदसे उसका रूप भिन्न-भिन्न प्रकारका हो जाता हो। जीवनको लगा, एककी अनेकताका शायद यही रहस्य हो, पर पूछे किससे?

"यही पूछनेके लिए तो मैं तुम्हारे पास आया और देखा कि तुम भी उसी विवशतासे पराभूत हो रही हो, जिससे त्राण पानेकी धुनमें मैंने तुम्हारी ओर देखा था। सोचा था, चन्दनको राखमें मिला देने पर, जो भस्म बनेगा, उसमें शीतलता और सुगन्ध दोनों होगी। शायद तब लोग मेरी राखको अधिक आदरसे मस्तक चढ़ायेंगे। पर देखता हूँ कि तुम भी उसी विवशताकी ज्वालासे दहक रही हो।"

जीवनका विचार-क्रम चल रहा था। चन्दन वैसे ही पड़ी थी। चाँदनीके हल्के प्रकाशमें भी उसके तेजको देखा जा सकता था। वस्तुतः वह उसका अपना तेज था, जिसे चाँदके प्रकाशकी आवश्यकता न थी। उसकी आँखोंसे उदधि झाँक रहा था जिसे उसने जीवनकी आँखोंमें उड़ेलते हुए कहा—"क्या सोच रहे हो इतनी देरसे ? मैं बेसुध नहीं हूँ। मैंने देखा है तुम्हारे मनके सौन्दर्यको। जाति-पाँति और कुलकी झूठी मर्यादाएँ हमको विवश नहीं कर सकतीं हीन होनेके लिए। हम दोनों प्राणोंकी एकतानता को पहचानते हैं। हम दोनों ही मनके सौन्दर्यको देखते हैं, और जीवनकी पवित्रतासे चिरपरिचित हैं। उठो, चलो मेरे साथ।"

पर जीवन निश्चेष्ट था। जैसे वह शून्य में खोया हुआ हो। फिर भी उसकी आँखें खुली थीं और उनसे अविरल अश्रु-धारा प्रवाहित हो रही थी। चन्दनके माथेका चाँद फिर आर्द्र हो चुका था। उसमेंसे निकलती हुई चन्दनकी सुरभि जीवनको सुरभित कर रही थी।

●●

• • कालेज छोड़नेके बाद

[एक]

शीलासे मेरी मित्रता प्रायः बचपनकी थी। बहुत कुछ समान सामाजिक परिस्थितियोंके प्राणी होनेके कारण निकटता होनी स्वाभाविक भी थी, और उचित भी। शीला पहाड़की लड़की थी। अल्मोड़ा ज़िलेके अस्कोट परगनेके देवल ग्राममें पैदा हुई थी। अपनी इस अकेली कन्याको अच्छीसे अच्छी शिक्षा देनेके मोहने ही शीलाके पिताको प्राकृतिक रम्यतासे निकाल कर प्रयाग बसा रखा था। प्रयागमें मेरा और उनका घर सटा हुआ था। उनके नज़दीक बैठ कर पहाड़, जंगल, और वन-श्री का जो चित्र मेरे मानस पटल पर बचपनमें अंकित हो गया, वह मेरे जीवनकी अमूल्य निधि है। गंगा-यमुनाके दोआबेमें स्थित एक गाँवका बालक, मैं, नदीकी कटान और उसके प्रवाहसे तो परिचित था। मैं परिचित था उसकी गम्भीरता और उसके मटमैलेपनसे भी। चाँदनीमें उसकी निर्मल धारा भी देखी थी। सूरजका उसके पीछे घनी अमराइयोंमें डूबना भी देखा था, और देखी थीं चाँदकी अठखेलियाँ, जो हर दूसरे पखवारे गंगाकी लहरियों पर दिखाई पड़ती थीं। नदीके सूनसान और किनारेके श्मशानके भयसे भी परिचित था। यह सब होते हुए भी नौका-विहार और तैरनेको ही प्रकृतिकी अनुपम देन मान लेता, यदि शीला और उसके पितासे मेरा परिचय

न हुआ होता। बचपनमें मेरा यह स्वभाव हो गया था कि रातका खाना खानेके बादमें कुछ देरके लिए शीलाके घर अवश्य पहुँच जाता और उसके पितासे कहानियाँ सुनानेका आग्रह करता। वह भी ऐसे कि उन्हें पहाड़की और अपने फौजी जीवनकी कहानियाँ सुनानेमें मज़ा आता था। कहानियाँ कहते-कहते वह देवल, अल्मोड़ा तथा आल्मोड़ा और काठगोदामके बीचके रास्तों और पहाड़के दूसरे क्षेत्रोंकी प्राकृतिक विभूतिका भी वर्णन करनेसे कभी न चूकते। पहले तो मुझे उसमें तिलस्मका-सा आनन्द आता था, पर पीछे चलकर ऐसा लगा जैसे जगतको मंगलका, सत्य और सौंदर्य का संदेश देनेके लिए ही प्रकृतिने सोदाहरण अपनी जीवन-गाथाके कुछ पृष्ठ खोलकर रख दिये हों। वर्णनोंसे ही यह विश्वास हो गया था, कि जब तक प्रकृतिकी फैली हुई इस गोदमें, शांतिका आमन्त्रण देते हुए उस संगीतमय पालनेमें, एक बार अपनी सम्पूर्ण सरलताको लेकर सो न लिया जायगा, तब तक जीवनकी सार्थकता न प्राप्त होगी।

शीला और मैंने एक साथ ही बी० ए० की परीक्षा दी और छुट्टियोंमें जब तक कि फल प्रकाशित न हो जाय, कहाँ रहूँ, इसकी समस्या कमसे कम मेरे सामने विकट रूपसे उपस्थित हो गई। कारण मेरे परचे बहुत अच्छे न हुए थे, और मैं यह नहीं चाहता था कि लोग रोज़ मुझसे उन्हींके बारेमें पूछें। मैं प्रयागसे बाहर किसी मित्र अथवा सम्बन्धीके यहाँ भी जा सकता था। अपने गाँव भी जा सकता था जहाँकी कछार, घनी अमराइयाँ, मोड़ लेकर तेज बहता हुआ जल, मछली पकड़नेकी जाल और छोटी

नावें, शाहीका शिकार और चम्पाका पेड़, मेरे बचपनके साथी, सब मुझे आज भी बाहें फैला कर अपना लेते। पर न तो उधर रुचि ही होती थी और न परीक्षाके बारेमें पूछे जाने वाले प्रश्नोंके भयसे मुक्तिकी ही आशा थी। इसी असमंजस और दुःखमें कातर हो रहा था कि शीला अपना आखिरी परचा हाथमें लिए आ पहुँची।

मैंने देखते ही पूछा—"तुम्हारा तो आज कैमिस्ट्रीका परचा था? कैसा हुआ? यही तो आखिरी परचा भी था?" एक साथ तीन प्रश्न पूछ कर यही सुननेको उत्सुक था कि वह कहेगी—"हाँ, हम लोग आज ही रातकी गाड़ीसे लखनऊ जा रहे हैं, और वहाँसे अल्मोड़े चले जायेंगे।" पर अपने आतुर नेत्रोंमें स्वीकृति, जिज्ञासा, और स्नेहके भावोंकी हलचल लिए वह बोल उठी—"पिताजीने कहा है, कि राजीवको भी अपने साथ चलनेके लिए कहो। बोलो, तुम चलोगे न?"

और, मैं कुछ कहूँ न कहूँ तब तक वह इठलाती हुई, मेरे कमरेसे लौट पड़ी—"मैं जाकर कह देती हूँ, कि राजीव चलेंगे। तुम सामान बाँध रखना।"—मेरे कानोंमें केवल इतना ही पड़ा।

हम लोग अल्मोड़े पहुँच कर कई दिन रुके, फिर सामान बाँधा और टट्टुओं पर लाद कर देवलके लिए रवाना हो गये। रास्ता मैदानमें रहनेवालोंकी दृष्टिसे सुनसान था, पर न वहाँ चोरोंका भय था न डाकुओंका। वन्य-पशु मिलते और अपने रास्ते चले जाते। बात सन् ४० की है जब हिन्दुस्तान आज़ाद न था और न

आज़ादीके लक्षण ही थे। रास्तेके गाँवोंमें गरीबी थी, भूख थी, तड़पन थी, पर आजकी तरह ज़बान न थी। उनकी बेज़बान तकलीफोंका ध्यान आते ही आज भी सिहर उठता हूँ। दूरसे देखने पर उनके छोटे-छोटे खेत पहाड़ोंकी पीठ पर ऐसे मालूम होते, मानो स्वयं नगाधिराज हिमालय भी उनकी गरीबीसे सिहर उठे हों। सचमुच खेतोंका चढ़ाव-उतार विशालकाय पीठ पर जाड़े की सिहरन-सा ही लगता था। आजकलकी सड़कें नहीं थीं। बसों की कौन कहे, छोटी जीपोंका भी रास्ता न था। रुकते-रुकाते अन्तमें हम लोग शीलाकी जन्मभूमि देवल पहुँच ही गये। पहाड़ोंमें जिस प्रकारके मकान मैंने देखे, उनको देखते हुए शीलाका मकान प्रासाद ही था। उसके भीतर सुन्दर, सजे कमरे और अटारियाँ उसके वंशकी समृद्धिका स्पष्ट परिचय दे रही थीं। बहुत दिनोंके बाद इस परिवारको पाकर उस गाँवके लोग फूले न समाये। बाका-यदे कई दिनों तक नाच-गाकर उत्सव मनाया गया। पर मेरी आँखें दूसरी ओर थीं। प्रयागमें रहते हुए भी शीला मुझे अद्वितीय सुन्दरी प्रतीत हुई थी। पर यहाँ आकर मुझे मालूम हुआ कि उस चित्रका असली "कैनवेस", उसकी वास्तविक पृष्ठभूमि, तो यहीं छूट गई थी। एक बार मैं शीलाको देखता, और दूसरी बार देखता कि गोरी नदी ताल देती हुई नीचेकी ओर सवेग जा रही है। पत्थरों पर टूटकर पानी फेन बनता था। फेन फिर जलके प्रवाहमें कुछ दूर तक बहता हुआ ऐसा जान पड़ता था जैसे कोई ऊपर बैठा हुआ श्वेतपुष्पोंसे देवर्षि-तर्पण कर रहा हो। उधरसे दृष्टि घूमी कि सामने जहाँ तक देख सकता था बरफकी चादर ही चादर

दिखाई पड़ती थी मानो पर्वतराज श्वेताम्बर धारण किए निर्विकल्प समाधिमें बैठे हों। ऊँची चोटियोंसे नीचे गिरते हुए बरफकी लकीरें जटिलजटा-सी प्रतीत होती थीं। नीचे तलहटीमें छोटे-छोटे बालक-बालिकाएँ अपनी बकरियोंके झुण्डोंमें ऐसे मालूम पड़ते थे जैसे प्रकृतिने पार्वतीके खेलनेके लिए खिलौने गढ़े हों। मुझे वह सन्देश मिला जिसकी मैंने कल्पना की थी। 'नीरव' शब्दका अर्थ चाहे जानता रहा हूँ पर उसका अनुभव नहीं हुआ था। रजनीकी नीरवतामें आकाशगंगा ऊपर दाहिनी ओर पूर्णचन्द्र और बाँई ओर हिमाच्छादित पर्वतमालाएँ, नीचे कलकल प्रवाहिनी नदी इन सबके सम्मिलित सौन्दर्यका अन्दाज़ कल्पनासे नहीं लगाया जा सकता। फिर वहाँ पहुँच कर आपकी भाषा मौन और उनकी मुखर कैसे हो जाती है इसका भी पता वहाँ जाकर ही मिल सकता है। मैं घण्टों रातमें भी बाहर रहने लगा। एक संध्याको बैठा रात्रिके आगमनकी तैयारियाँ देख रहा था कि लगा जैसे कालका प्रवाह रुक गया हो। पहाड़ और चन्द्रमा उलटते-पुलटते प्रतीत हुए, नदी—ऐसा मालूम हुआ—उलटी बहकर मेरे ऊपर आ रही है। लगा मैं कहीं और पहुँच गया हूँ। क्षणभरमें ही घबरा उठा और आँखें मूँद लीं। थोड़ी देर बाद लगा जैसे उस भू-खण्डका सारा सौन्दर्य अपनेमें समेट कर, अपनी स्मितकी चाँदनी बिखेरती हुई हिमानीको भी शीतलता प्रदान करनेवाले कोमल हाथोंसे सहलाती हुई, मेरे सिरको अपनी गोदमें लिए हुए एक सुन्दरी कालको गति दे रही है, मुझे चेतना दे रही है। चन्द्रमा सकुच कर फिर सामने आने लगा, नदी पुनः प्रवाहित होने लगी, वनस्पतियाँ हँसने लगीं।

प्रकृतिस्थ होने पर देखा मैं वहीं लेटा हूँ। शीला मेरा सर अपनी गोदमें लिए सहला रही है।

[दो]

कालेज छोड़नेके बाद पिछले सोलह वर्षोंमें कहाँ-कहाँ रहा, क्या-क्या देखा, यह सब और आज जो कुछ लिख रहा हूँ, वह भी केवल मेरे अनुभवकी बात रह जानी चाहिए थी। द्वितीय महासमर में केवल इसलिए भारतीय सेनामें भरती हो गया था कि देशकी जो राजनीतिक अवस्था और अनिश्चयता थी उसमें मेरे जैसे युवकके लिए कोई स्थान, कोई उद्देश्य साफ नजर नहीं आ रहा था। किस प्रकार इम्फल तक पहुँचा, कैसे इंडियन नेशनल आर्मीमें भर्ती हुआ और फिर कैसे आज उन अवस्थाओं और परिस्थितियोंसे बिल्कुल भिन्न, भारतीय कल-कारखानेके अधिपतियोंकी सेवा स्वीकार करने पर बाध्य हुआ वह सब भी इस कहानीके रोचक अंश नहीं। आज तो यहाँ इतना ही कहना चाहता हूँ कि पिछली गर्मियोंमें सपरिवार डलहौजी आया था। डलहौजी फौजकी जिन्दगीमें एक बार पहले भी आ चुका था। इसकी हिम-श्रेणियाँ मुझे उस बार भी आकृष्ट कर रही थीं। उसका सुनसान वातावरण मुझे बरबस अल्मोड़े के देवलग्रामकी याद दिला रहा था पर उस बार अल्मोड़े और शीला से अलग हुए केवल डेढ़ वर्ष बीते थे। याद ताजी थी। शायद इसी-लिए कोई टीस न थी। फौज़के एक छोटे अफसरके रूपमें अकेला था। विवाह भी न हुआ था। जीवनके सपने रोज़ ही रंग बदल कर आते और मैं सुनी अनसुनी कर देता था। धुन कुछ दूसरी थी।

पर इस बार शामको चलनेवाली हवा, सबेरेकी ताज़गी, बर्फकी परतें और सुनसानकी बांसुरी सब मेरे पीछे पड़ी हुई थी। मैं परिवारके साथ होने पर भी अकेला अनुभव कर रहा था। मन अनमना सा होने लगा और जिस शौकसे आया था उसको तिलांजलि दे वापसी का प्रस्ताव कर बैठा। तिलोत्तमा (मेरी पत्नी) को बहुत अच्छा न लगा। अभी आये एक सप्ताह भी न हुए थे कि जानेकी बात उसको अच्छी न लगी। कोई निश्चय न हो सका फिर भी तिलो-त्तमाको यह आभास हो गया कि यहाँ अधिक दिन नहीं रहा जा सकता था।

उस दिन रातको हम लोग खानेके लिए रोजकी ही तरह होटलके लाउँजमें पहुँचे। जिस टेबुल पर हम रोज खाना खाते थे उस ओर आज भी बढ़े पर देखा कि उस पर १८ नं० की तख्ती लगी हुई थी। मैंने होटलके बेयरेसे पूछा—"आज इस पर दूसरे कमरेके लोग क्यों आ गये ?"

बड़े अदबसे बेयरेने कहा—"हुजूर, यह लोग पिछले एक महीनेसे यहाँ ठहरे हुए हैं। इसी टेबुलपर खाना खाते थे। अभी एक हफ्तेके लिए बाहर चले गये थे। आज वापस आ गये। अगर हुजूरको एतराज न हो तो यहाँ बैठ जायँ।" उसने मुझे दूसरी टेबुल दिखाते हुए कहा।

मुझे क्या एतराज होता। पर कुछ अजीब-सा लगा कि यह लोग कौन हो सकते हैं! जिनकी इतनी खातिर। पर मुझे क्या टेबुल खरीदनी है ? अच्छा न लगते हुए भी मैंने प्रतिवाद न किया और तिलोत्तमाको लेकर दूसरी ओर मुड़ पड़ा। मुड़ते ही देखा

एक अधेड़ सज्जन एक लड़कीके साथ उसी टेबुलकी ओर बढ़े। लड़की ! मैं रुका। लेकिन पर-स्त्रीकी ओर देखना शोभन नहीं, अतः चुपचाप जाकर दूर अपनी टेबुल पर बैठ गया। खाना प्रारम्भ कर चुका था कि किसीके हाथ कन्धों पर पड़े। तिलोत्तमा मेरी पीठकी ओर खड़े व्यक्तिको देख रही थी। उसने साग्रह और स्नेह से कहा "बैठिये।"

मैं घूम पड़ा। देखा तो वही लड़की थी जिसे क्षण भर पहले देख कर भी अनदेखा कर दिया था। मेरी समझमें न आ रहा था कि मैं किसे देख रहा हूँ ! किन्तु मेरी बड़ी रक्षा हुई जब उस लड़कीने स्वयं कहा—"राजीव, तुम कब आये ? भाभी तो मुझे पहचानेंगी ही नहीं, पर क्या तुम भी भूल गये ? कालेज छोड़नेके बाद आज ही देख सकी हूँ।" उसके इस अंतिम वाक्यके साथ उसके जीवनकी सारी विवशता उसकी आँखोंसे उमड़ पड़ी। तिलोत्तमाकी ओर उसके कन्धों पर लहरते रेशमी बालोंने उसकी विवशता और मेरी स्मृतिके बीच जुड़ते हुए सूत्रकी रक्षा की। मैंने साहस बटोर कर कहा "शीला, तुम यहाँ कैसे ?" शीला एकटक मुझे देख रही थी। उसमें प्रौढ़ता आ गई थी पर मेरे सामने वही सोलह साल पुराना अल्मोड़ेका वातावरण घूमने लगा था। लगा जैसे इस समय भी वह मेरे बालोंको सहला रही है। मैं घबरा उठा। लगा जैसे यहाँ नहीं ठहर सकता और कह बैठा–"आओ चलें, उसी टेबुल पर चलें, तुम्हारे पति अकेले बैठे हैं।"

शीलाने मुझे ऐसा देखा जैसे मैं बहुत छोटा हूँ और उसको, मुझसे ऐसी प्रत्याशा न रही हो। पर क्षण भर बाद ही वह बदली

और हँसते हुए उसने कहा—"कालेज छोड़नेके बाद यह तुमसे पहली बार भेंट हो सकी। मैंने शादी नहीं की। उम्मीद है कि अब बराबरभेंट होती रहेगी।"

दूसरे दिन मैं और तिलोत्तमा सबेरे ही डलहौजीसे रवाना हो गये।

● ●

• • साधना पूरी हुई

[एक]

आनन्द और साधना एक प्राण दो शरीर जरूर थे पर दोनोंमें एक ही विकलता थी, मर्मको समझनेकी एक जैसी ही चाह थी और आदर्शकी स्थापनाकी एक ही वेदी थी। पर, दोनोंके बीच संसारकी परम्पराएँ, उसका ओछापन, अचल और अलङ्घ्य मेरु-सा खड़ा अट्टहास कर रहा था उनके रुदन पर, लोरियाँ गा रहा था उनकी तड़पन पर, बहारके सुर बजा रहा था उनके पतझड़ पर, लेकिन वह थे कि चले जा रहे थे। उनके भी पैर थे कि रुकते नहीं थे। उनका भी शरीर था कि गलता नहीं था। उनका भी मन था कि टूटता नहीं था, और उनकी भी आँखें थीं कि सब कुछ अपलक देख रही थीं। उनके भीतर जो वंशी बज रही थी, जो राग उठ रहा था, उसका लय और सुर उन दोनोंको एक कर रहा था, पर समाजके नियम उन्हें अलग-अलग यूपोंमें बाँधे हुए थे। इसी प्रकार कालेजके कई वर्ष बीत गये। साधना बी० एस्-सी० प्रथम वर्षमें थी। आनन्दकी एम्० ए० की पढ़ाई समाप्त हो रही थी। वह कालेज छोड़कर क्या साधनाको छोड़ सकेगा, यह एक समस्या क्योंकर बनी, इसको समझनेकी ताक़त रखते हुए भी उसने उस ओर ध्यान न दिया। वह सोचता रहा कि एम्० ए० करनेके बाद वह क्यों पढ़े ? कानूनकी पढ़ाई उपयोगी

थी पर उससे उसको अरुचि थी। वह एकाधिक बार इसका विरोध साधनासे कर चुका था। जीवन केवल उपयोगिताकी शिला पर नहीं टिकाया जा सकता, फिर भी वह इसी उधेड़-बुनमें, परीक्षा समाप्त हो जाने पर भी छात्रावासमें ही रुका रहा। उसको घर न जाते देख साथियोंने मीठे व्यंगके साथ पूछा भी कि कब तक रुकोगे ? साधनाका आखिरी पर्चा तो अप्रैलके तीसरे सप्ताहमें समाप्त होगा। किसीने तेज चुटकी ली और कहा कि अबकी होस्टलकी पुताई-सफाईका भार आनन्दके ही ऊपर है। एकने और आगे जाकर कहा कि इस साल घरके पैसेसे काम न चला होगा बकाये बिलोंकी अदायगी इसी आमदनीसे करनी है। पर आनन्दको तनिक बुरा न लगा, साथियोंकी इन अनपेक्षित कड़वी बातोंसे। वह हँस कर टाल देता या फिर कहीं घूमने चला जाता। ले-देकर उसने मार्चका आखिरी सप्ताह और फिर अप्रैलका पहला चरण समाप्त कर दिया। होस्टल खाली हो चुका था। उसके सुपरिण्टेण्डेण्टने भी एक दिन उसके घर जानेके बारेमें पूछा। उसने उत्तरमें विनम्रतापूर्वक कह दिया कि अभी कुछ रुपये घरसे आनेवाले हैं। वह बिलोंकी पूरी अदायगी करके ही जाना चाहता है, क्योंकि जुलाईमें अब उसके लिए आना शायद सम्भव नहीं। आनन्दको रुपयोंकी सचमुच प्रतीक्षा थी। अप्रैलके तीसरे सप्ताहमें साधनाकी भी परीक्षा समाप्त हो गई और आनन्दने भी उसकी सफलताकी कामना करते हुए उससे विदा माँगनी चाही।

"मैं समझती हूँ तुम अब अधिकतर घर ही रहोगे।"—साधनाने स्नेह-भरे शब्दोंमें आनन्दसे कहा।

आनन्द इसका उत्तर अभी नहीं देना चाहता था। वह क्या करेगा और क्या नहीं इसका उसे स्वयं पता न था। पर इतना सच था कि अभी वह घर ही जा रहा था। उसका प्रत्येक कार्य अपने लिए ही नहीं होता था। वस्तुतः आनन्दके लिए अपने परायेका भेद मिट चला था। उसका जीवन यदि निरुद्देश्य नहीं तो अपने लिए भी नहीं था। यदि उसके जीनेका कोई उद्देश्य था तो कुछ महत् था जिसकी परिभाषा न तो वह दे पाता था और न देना ही चाहता था। उसे ऐसा लगता था कि ऐसे बहुतसे लोग हैं जो जीवनके स्वसे ऊपर उठे हुए हैं और महत्को पहचानते हैं। कमसे कम उसे इस बातका विश्वास था कि साधना जनलोकसे ऊपर उठकर उसके तप और सत्यको खूब पहचानती है। जो कुछ भी हो उसने साधना के इस प्रश्नका उत्तर न देकर अपने अंतरकी सम्पूर्ण सरलतासे पूछा—"परीक्षा देकर क्या तुम घर जाना चाहती हो?" साधना हँस पड़ी। उसने सहज स्मितके साथ कहा—"और नहीं तो क्या तुम्हारे साथ चलूँगी?"

"मेरे साथ चलना क्या असंगत होगा? मैं भी मनुष्य ही हूँ साधना! और मेरे माता-पिता भी मनुष्य ही हैं। तुम जैसे प्राणीको देखकर वे बहुत प्रसन्न होंगे। चलो मेरे साथ ही चलो। कुछ दिन रह कर घर चली आना।"

साधना सोचने लगी यह भी कैसा जीवन है। इसे इसकी परवाह नहीं कि यह अपने माता-पिता और समाजके लिए एक अपरिचित लड़कीको लेकर घर जायगा तो लोग क्या कहेंगे। उसे यह भी धुन नहीं कि परीक्षा समाप्त हो जानेके बाद जब कि मेरी माँ

और मेरे भाई प्रत्येक ट्रेनसे मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे, तो मेरे एक अपरिचित युवकके साथ उसके घर चले जाने पर, वह क्या सोचेंगे ? क्या यह सचमुच ऐसा है कि इसे इन बातोंका ध्यान ही नहीं आता, अथवा जानबूझकर अनजान बनता है। फिर उसने अपनेको मन ही मन धिक्कारा। यदि इसके साथ इतने दिनों रह कर भी मैंने इसको नहीं जाना तो अब क्या जान पाऊँगी ? निश्चय ही यह इन चीज़ोंसे ऊपर है। वह सोचने लगी कि शायद यही सामाजिकताका आदर्श है, मानवताका संबल है, और पवित्रताकी परिधि भी।

आनन्द उसे एकटक देख रहा था और देख रहा था उसके विचारोंकी तल्लीनताको, पर अधिक देर न रुक सका, पूछा—"क्या सोच रही हो ? नहीं चलोगी ?"

"चलूँगी। पर शरीरसे नहीं।"

आनन्द प्रसन्न हो उठा। ऐसा लगा दोनों ही एक दूसरेका मन अपने साथ लेकर विदा हो रहे हों।

[दो]

छुट्टियाँ समाप्त होते ही युनिवर्सिटीमें फिर चहल-पहल शुरू हो गई। साधना इस वर्ष नहीं आई। उसने मेडिकल कालेजमें नाम लिखा लिया था। माता-पिताकी आज्ञा मानकर अब वह डाक्टरी पढ़ेगी। मेडिकल कालेज भी युनिवर्सिटीका ही एक अंग था। वही वातावरण, वही चहल-पहल, सब कुछ वही पर उसे एक सूनेपनका अनुभव हुआ। शायद जो वह देखना चाहती थी उसका यहाँ अभाव था। फिर भी उसकी आँखें खोजती ही रहीं।

जुलाई-अगस्तका महीना यों ही समाप्त हो गया। जन्माष्टमी की छुट्टी आई। उसने सोचा एक बार फिर घर हो आऊँ। लेकिन क्या घर जानेसे कुछ अन्तर पड़ेगा? उसे तो पढ़ना ही है और अब तो पूरे पाँच वर्ष पढ़ना है। जो आज नहीं है क्या वह कल आ जायगा और जो आज है क्या वह कल नहीं रहेगा? तो फिर वह क्या चीज़ है जो है और जिसे वह जानना चाहती है, जानती है और पाना चाहती है। पर इस प्रकार पहेलियाँ बुझानेसे भी तो काम नहीं चलता। निदान उसने अपना सामान बाँधा और ताँगे पर रखकर होस्टलसे बाहर निकली ही थी कि आनन्द साइकिल पर तेजीसे आता हुआ दिखाई पड़ा। आनन्दको देखकर उसने आँखें बन्द कर लीं, मानो उसे भीतर प्रवेश कराके उसने कपाट बन्द कर लिये हों।

"साधना क्या तुम जा रही हो? क्या तुमने पढ़नेका इरादा छोड़ दिया? मैंने तो तुम्हारे ही लिए अपना संकल्प छोड़ा, घर छोड़ा और पुनः युनिवर्सिटीमें नाम लिखा लिया, और तुम घर जा रही हो?"—एक सांसमें ही आनन्द सब कह गया। वह साधना की ओर देखता जा रहा था और सोच रहा था कि साधना कितनी प्रसन्न हो रही होगी। पर साधना मूर्छना-सी खड़ी ताँगेका सहारा ले रही थी। आनन्द फिर कुछ कहना चाहता था कि उसने कहना शुरू किया। उसके स्वरमें अप्रत्याशित गम्भीरता आ गई थी। उसकी वाणीमें ओज था प्रेरणा थी। वह कहती गई—"आनन्द, यह मैं क्या देख रही हूँ? तुम क्यों लौट आये? अब तुम्हारे पढ़नेका उद्देश्य अध्ययन, ज्ञान-प्राप्ति और सत्यकी खोज

और साधना नहीं? असंयम और आत्मप्रवंचनाके लिए तुम यहाँ तक दौड़े चले आये, मैं ऐसा नहीं सोचती थी। तुममें इतना असंयम कहाँसे आ गया ? मैं तुम्हें इतना असंयमी नहीं समझती थी। तुम्हें अपना संतुलन नहीं ही खोना चाहिए था''···आदि आदि; और उसके स्वर मधुर होने लगे।

आनन्द अपनेको खो चुका था। आज वह इतनी दूर केवल समर्पणके लिए आया था। बलि चढ़ाने आया था, बलिदान लेने नहीं। वह चाहता था कि एक बार राखके भीतर दबी हुई अग्नि को प्रज्वलित कर उसकी लौ देख ले। साधनाकी चेतना सजग थी पर सत्य पर परदा नहीं डाला जा सकता था। उसने क्षणभरमें ही समझ लिया कि वह कहाँ खड़ी है और आनन्द क्या चाहता है। उसने संयत स्वरमें फिर कहना प्रारम्भ किया—

"आनन्द, तुम जहाँसे आये हो वहीं चले जाओ। मुझे कुछ हद तक यह सन्तोष दे दो कि तुम्हारे हर क्षण, हर काम मुझसे ही लगाव नहीं रखते। वह एकके लिए न होकर तुम्हारे जीवन-यज्ञकी वे आहुतियाँ है जो जगत्की मंगल-कामनाके लिए प्रेरित होती हैं। इसे तुम अपने प्रति मेरी उपेक्षाकी भावना न समझना। पर तुम शायद बराबर यही सोचते रहते हो। यही कारण है कि तुम आज फिर लौट आये। पर क्या तुमने कभी इस बात पर भी सोचा है कि अपने प्रति तुम्हारे इस रागके न रहने पर मैं तुम्हें उच्छृङ्खल समझ लूँगी ? अथवा अपनेको उपेक्षिता ? नहीं, ऐसा कदापि न होगा।"

आनन्दका चेहरा उतर चुका था। उस पर सफेदी चढ़ गई

थी। खून मानो सूख गया था। साधनाने उसकी ओर देखा और देखा उसकी सफेदीको। वह बेसुध होने लगी। आनन्द जो खुद सहारा चाह रहा था साधनाको सहारा देनेके लिए आगे बढ़ा। दोनों सँभल कर होस्टलके फाटककी मुड़ेर पर बैठ गये। साधनाका स्वर बदला हुआ था। वह कुछ कहना चाहती थी। उसने आनन्द का हाथ धीरेसे उठा लिया और कहनेकी कोशिश की—

"मैं यह सब कह कर तुम्हें नाराज़ नहीं करना चाहती थी। मैं जानती हूँ कि मेरे मनके राजा इतने असंयमी नहीं। मैं जानती हूँ कि वह मेरे विश्वासोंकी रक्षा करेंगे ही।"—इसके आगे वह न बोल सकी। उसने अपना सर आनन्दके कंधेसे टिका दिया था, वह फूलसे हल्केपनका अनुभव कर रही थी। आनन्द चुप था। वह केवल उसकी ओर देख रहा था। साधना फिर सचेष्ट हुई—

"मेरी श्रद्धा तुम्हारे चरणोंमें सदैव सदैव रहेगी। हम दोनों ही क्षुद्र प्रेमके अभिनेता नहीं। मैं यह नहीं चाहती कि मेरे विश्वासोंका ऊँचा स्तम्भ क्षुद्र एवं लघु आकृतियोंसे अभिभूत हो। मैं नहीं चाहती कि उसकी विशालताकी परिधि धुँधली हो। मेरी क्षुधित आत्मा अभी तक यही खोजती रही, कि शायद कोई ऐसा व्यक्ति इस संसारमें प्राप्त हो सके, जो मेरे मनमें बने आदर्शोंके अनुकूल हो। मैं एक बड़ा ही पवित्र एवं भव्य हृदय चाहती हूँ जो संसारकी लघुतासे दूर बहुत दूर हो और मैं उस श्रद्धेयको ही अपना आदर्श समझूँ। यह मेरी भावनाओंकी कोरी सरिता नहीं। मैं चाहती हूँ कि मेरी बातोंमें निहित, मधुर किन्तु कठोर सत्यका विश्वास तुम मुझे दिला सको।"

[तीन]

प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें एक समय ऐसा भी आता है जब उसे अपना अस्तित्व ही निरर्थक दिखाई देने लगता है, जब विविधतासे भरा यह जगत् उसे नीरस और सूना लगने लगता है, जब उसके हृदयमें धूल उड़ने लगती है तब उसके चतुर्दिक्का पर्यावरण बोझिल और घुटन पैदा करने वाला लगने लगता है। ऐसी विरक्ति के क्षण यद्यपि थोड़े ही होते हैं पर उनका मूल्य आंका नहीं जा सकता। उनको पहचानकर, पकड़कर ऊपर उठने वाला उठ जाता है। उनकी परख उसे वह जौहरी बना देती है जिसके सामने संसार के सारे मानिक मोती झूठे और मटमैले जान पड़ते हैं—वह उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। उसकी आँखोंमें तो कुछ दूसरे ही दमकने वाले मोतियोंकी चमक बसी होती है और उस ज्योतिकी होती हुई अजस्र वर्षामें वह दिन-रात भीगता रहता है। तब कौन अपना और कौन पराया ? पर इन्हीं क्षणोंको हाथसे निकल जाने देकर वह कुम्हारकी चाक पर मिट्टीके बरतन बनाता और फोड़ता रह जाता है। आनन्दने अपनी इन्हीं अनमोल घड़ियोंमें वह स्वर सुने थे जिनमें पीड़ा थी, वह चित्र देखे थे जिनमें करुणा के रंग भरे थे, वह रातें देखी थीं जिनमें जगा जाता है और देखा था उस अन्धकारको भी जिसके पीछेसे प्रकाश झाँकता रहता है।

अल्मोड़ेमें रहते आज आनन्दको पूरे आठ वर्ष व्यतीत हो गये थे। उसने अपना जीवन वहाँके क्षय-ग्रस्त जवानोंकी शुश्रूषाके लिए अर्पित कर दिया था। अनवरत कामसे उसका शरीर थक

गया था, शायद छुट्टी भी पाना चाहता था। प्राणोंकी दुनिया अलग होती है। शायद उसके प्राण भी उसी दुनियामें जाना चाहते थे। इधर रोगियोंकी संख्या इतनी बढ़ गई कि अल्मोड़ेके पीछेकी वीरान पहाड़ी इन्हींकी झोपड़ियोंसे आबाद हो गई। उन्हींमें एक झोपड़ी आनन्दने भी डाल ली।

आज़ादीके थोड़े ही दिनों बाद शासनकी ओरसे क्षयरोगके रोगियोंका विशेष प्रबन्ध होने लगा था। जहाँ इस रोगके विशेष अस्पताल न खुल पाते थे वहाँ इस रोगके विशेषज्ञोंको भेजकर रोगकी रोकथामका प्रबन्ध होने लगा था। ऐसे ही डाक्टरोंकी एक टोली आज अल्मोड़े भी आई थी। झोपड़ियोंके मरीजोंकी अच्छी छानबीन हो रही थी। जो सैनेटोरियम भेजे जा सकते थे उनके लिए वहाँ भेजनेका प्रबन्ध हो रहा था। डाक्टरोंकी टोली आनन्दकी झोपड़ीमें भी आई। डा० मेहता आनन्दकी परीक्षा करते ही विषण्ण हो गये। चुपचाप सभी बाहर निकल आये पर उनके साथ की महिला चिकित्सक खड़ी ही रह गई।

लोगोंके बाहर निकलते ही साधना आनन्दकी चारपाई पर गिर पड़ी। बिलखते हुए उसने कहा—"आनन्द! मेरे राजा! तुमने यह क्या किया?" आनन्दके नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी, उसने धीरेसे कहा—"मुझे उस समय भी कुछ नहीं चाहिए था। इस समय भी कुछ नहीं। मेरी साधना पूरी हुई।"

उसने सदाके लिए आँखें मूँद लीं।

● ●

• • इन्द की पराजय

[एक]

कनकने अपना बचपन हँस-खेलकर पार किया था। वह बचपनमें भी कितनी चंचल कितनी चपल थी, इसकी कहानी तो उसके माता-पितासे अच्छी तरह सुनी जा सकती है, पर शायद वह यहाँ इतनी आवश्यक नहीं। राज-परिवारकी कन्या जैसे सुखसे रहती है वह सब कनकके बचपनमें सुलभ था। राजाकी लड़की न होते हुए भी राजपरिवारसे सम्बन्ध तो था ही। फिर रस्सी जल जाती है ऐंठन नहीं जाती, यह कहावत सभीको मालूम है। कनकके पिताके निकट पूर्वज एक राजघरानेके पट्टीदारोंमेंसे थे, यहाँ इतना ही कहना अलम् होगा।

कनककी शिक्षा-दीक्षा भी ऊँची और पाश्चात्य ढंगके समृद्ध विद्यालयोंमें हुई थी। कनकने उनमें और कुछ पाया हो न पाया हो, इतना जरूर था कि वह अंग्रेज़ीके अलावा अन्य किसी भाषामें बोलना अपना और अपने पूर्वजोंका अपमान समझती थी। शायद उसे अन्य किसी भाषाका ज्ञान भी नहीं था। परिस्थितिवश यदि कभी उसे हिन्दी बोलनी ही पड़ती तो वह उसे "हिन्दोस्तानी" कहती और उच्चारण कुछ उसी प्रकार करती जैसे अंग्रेज़ या बंगाली हिन्दी बोलते समय करते हैं। उसे हिन्दी बोलनेमें इतना कष्ट होता कि वह प्रायः उन कामोंको नहीं करती, उन स्थानोंमें नहीं जाती, उन लोगोंसे नहीं मिलती, जिनके करनेमें, जहाँ

जानेमें और जिनसे मिलनेमें उसे इस बातकी आशंका होती कि उसे हिन्दी बोलनी ही पड़ेगी। वेश-भूषा उसकी अपने मनकी होती। उसमें न केवल अपनी सुविधाका विशेष ध्यान होता, वरन् दूसरोंके लिए आकर्षणकी बात अधिक होती और, इसी दृष्टिसे उनके नित नूतन रखनेका प्रयत्न नई कलाओंको जन्म देता रहता। बालोंके सम्बन्धमें तो उसका निश्चित मत था, कि जब छोटे बालोंको लेकर सभी प्रकारके भारतीय-अभारतीय रूप-विन्यास किये जा सकते हैं, तो बड़े बालोंका बोझ ढोना न केवल हिमाकत है और मैल व गन्दगीको प्रश्रय देना है, वरन् कई प्रकारके श्रृंगार-सुखसे अपनेको वंचित भी रखना है। उसके दैनिक जीवनमें शर्ट-ब्लाउज़ और पैंट, स्कर्ट और फ्राक, सलवार और कुर्ता, गरारा, सूट इत्यादिको वही स्थान मिला था जो पुरुषोंके पहनावेमें पैंटको, या यों कहें कि भोजनमें नमक को। साड़ी-चोली उसके लिए विशेष अवसरोंकी वस्तु थी, और होनी भी चाहिए थी, क्योंकि उसमें भी पुरानापन है और इसीलिए यदि उसे वह कभी स्वीकार भी करती तो उसके अति प्राचीन रूपोंमें ही। इसीको शायद वह पूर्वजोंके प्रति अपनी निष्ठा और देश-प्रेमका उत्कट परिचय मानती थी। शायद इसीलिए इसे एकदम छोड़ सकना उसके लिए सम्भव न हुआ। उसकी सारी भारतीयता संकुचित होकर इसीमें निहित हो चुकी थी। इतना ही नहीं वह साड़ी किन अवसरों पर पहनेगी यह भी उसका अपना विवेक था और उसके पास असा-धारण विवेककी कमी नहीं। विवाहके अवसर पर वह पहनेगी कि नहीं इस पर विचार करनेका प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि

विवाहके सम्बन्धमें भी उसके अपने विचार हैं और उनको सुन लेनेके बाद उसके विवाह करने न करनेके प्रश्नका निर्णय आसानीसे और वह भी दूसरों द्वारा कोरी आत्मप्रवंचना होगी। विवाहके प्रश्न पर भी वह अपने ढंगसे राष्ट्रीय स्तर पर विचार करती थी।

कनक व्यर्थके आडम्बर वाले और बड़े मकानोंको भी राष्ट्रीय हितमें उचित नहीं समझती। जब एक ड्राइंग, डाइनिंग और बेड रूम वाले फ्लैटमें सारा संसार बसाया जा सकता है, तो बड़े और सजावट वाले मकानोंकी क्या आवश्यकता? उद्यानोंका उसे शौक था पर उन्हें भी आज़ाद हिन्दुस्तानकी सरकारें प्रत्येक नगर-डगरमें बना रही हैं, अतः उद्यानकी आवश्यकता पड़ने पर सर्व-सुलभ और सुन्दर उद्यानोंका उपभोग किया जा सकता है। थोड़े खर्चेमें देशके सुरम्य स्थानों और विशिष्ट उद्यानोंका भरपूर उपयोग जब हो सकता है तो रात-दिनकी चिन्ता सर मोल लेकर निजी उद्यान रखना विचारोंकी संकीर्णता है और राष्ट्रीय भावनाकी कमीका द्योतक भी। बड़े समाजके एकत्र होनेके अवसरों पर और भोजन-पानीकी व्यवस्थाकी आवश्यकता उत्पन्न हो जाने पर करोड़ों रुपयोंकी लागतसे बने दिल्ली और बम्बईके होटलोंका सहारा लिया जा सकता है। राष्ट्रके धनसे बने इन विशालकाय आवासों और भोजन-गृहोंकी कोई उपयोगिता न रह जायगी यदि लोग इनका अधिकाधिक उपयोग न करेंगे। अच्छे होटल, चाहे बड़े पैमानेके न हों, प्रायः सभी प्रतिष्ठित नगरोंमें मिल ही जाते हैं। जहाँ ऐसे होटलोंका विधान नहीं उन नगरोंसे कहीं अच्छा जंगलोंके निरीक्षण आवासोंमें ठहरना कनक निश्चित रूपसे मानती

थी। वहाँ प्रकृति-शोभा और सौन्दर्यके निरीक्षणका भी अवसर मिलता है और कुरूप, अव्यवस्थित गन्दे नगरोंकी अपेक्षा जंगलोंके रास्तोंमें पड़नेवाले ग्रामों और ग्रामवासियोंकी निपट सादगी और निर्धनता देखनेका भी। ऐसा करनेमें राष्ट्रनीति और समाज-सुधार सम्बन्धी उसके विचारों और तर्कोंको बल मिलता है। क्योंकि उसका ख्याल है कि देश अभी भी गरीब है और भारतीयोंको, विशेषकर ग्रामीण जनताको, बहुत अधिक प्रकाशकी जरूरत है। आज़ादीके बाद गाँव-गाँवमें स्कूल खुले, चिकित्सालय बने, सड़कें बनीं, बिजली-पानीकी व्यवस्था हुई और नाना सुख-साधनोंको जुटाया गया पर आज भी भारतकी ग्रामीण जनता अपढ़, गरीब, स्वास्थ्यहीन और नवीन सुख-साधनोंके प्रति उदासीन ही है। इसका सबसे बड़ा कारण वह यह मानती है कि हमने अर्थात् देशके व्यवस्थापकोंने न तो जीनेकी कला खुद सीखी है और न वह आम जनताको सिखाना चाहते हैं। वह मानती है कि जिन्दगी स्वार्थ और गन्दगीके बल पर काटी तो जा सकती है पर जी नहीं जा सकती। उसकी दृष्टि में तो भौतिक साधनोंका केवल जुटाना आवश्यक नहीं वरन् उनके उपभोगकी लालसा और तज्जन्य सुखोंके अरमान जगाना भी आवश्यक है। उसे यह देखकर बहुधा ही दुःख होता है कि भारतीय किसान आज भी उलटी सीधी धोतियां पहने और फटे कुर्तोंसे शरीरको ढकनेका दुष्प्रयास करनेमें अपने जीवनकी सार्थकता मानता है। उसे आज भी कबीर और तुलसी प्रिय हैं और उनके बोल और बानियां उसके जीवनमें बसी हैं। नव-निर्माणके युगमें किसानों

के पास पर्याप्त पैसा आया है पर उसे दुःख होता है जब वह देखती है कि भारतीय जनता उन्हें ले जाकर प्रतिवर्ष नाना तीर्थस्थानोंमें व्यर्थकी चीजोंमें व्यय कर देती है। वह यह नहीं चाहती कि वह तीर्थस्थानोंको न जाँय पर उसकी यह इच्छा जरूर होती है कि वह उन स्थानोंके सौंदर्यको देखें, उनकी पवित्रताको अक्षुण्ण बनायें, उनके अध्यात्मको पहचानें, उनके प्रकाशमें अपनेको चमकायें न कि वहाँ अनाचार, चोरी, पाप और गन्दगी फैलायें। वह सबसे हँसकर बोलने और इठलानेको बुरा नहीं मानती पर चोरी चोरी शारीरिक अनाचारको घोर पाप मानती है। उसकी कल्पनाके भारतीय किसान यदि धोती कुरता ही पहनना चाहें तो उसे उतना दुःख न होगा यदि वह उसे करीनेसे पहनें और साफ रखें। भाषा उनकी साफ और मँजी हो, स्त्रियाँ उनकी रंगीन और स्वस्थ हों और उनके जीवनमें दूसरोंसे छिपाने वाली बातें कम हों।

कनक जिस वातावरणमें पली थी उसमें रहते हुए यह सब बातें उसके लिए स्वाभाविक थीं और इसीलिए वह प्रायः दिल्ली और बम्बई छोड़ अन्यत्र नहीं जाती थी। वह कहा करती कि अपने राष्ट्रीय दुःखको भुलानेका इससे बड़ा और सरल कोई उपाय नहीं। अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता फिर भी उसने प्रयास किया कि उसे विगत चुनावमें टिकट मिल जाय और वह देशको सही रास्ता दिखा सके। पर इसके लिए वह अपने सिद्धान्तों और विचारोंका न तो हनन करनेको प्रस्तुत थी और न ही वह तैयार थी शारीरिक कष्ट और कुरूपताको सहन करनेके लिए। निदान उसका किसी दलसे मतैक्य नहीं हुआ और साम्यवादी वह स्वभावसे न

थी। अन्यथा वहाँ उसे जितना प्रलोभन दिया गया उतना प्रलोभन इन्द्रको भी अपना सिंहासन छोड़नेके लिए पर्याप्त था। साम्यवादी जानते थे कि वह क्या है, और उसका आकर्षण क्या कर सकता है। पर वह अपने व्यक्तित्वको बेचनेके लिए प्रस्तुत न थी।

बम्बईमें उसका फ्लैट मैरीन ड्राइवपर ही था और इच्छा न रहते हुए भी सिन्धु आँखोंके सामने सदा ही लहराता रहता था। कारण चाहे जो भी हो पर इतना और भी सही है कि कनकके हृदयमें भी अरमानोंका सागर उससे दुगुने वेगसे लहराता रहता था। दोनोंकी आपसी होड़की पहचान यदि किसीको थी और यदि कोई ऐसा था जो इसकी लहरोंपर उछलता रहता और आशा-निराशाके विवर्त्तमें डूबता-उतराता था तो वह मणिलाल ही था जो बम्बईके एक बड़े व्यवसायी गुजराती परिवारका अकेला वारिस था। वैसे तो कनकके ज़ीवनमें प्रवेश करनेवाले सैकड़ों युवकों और युवतियोंकी परिधिके बाहर और विशेष गिनती मणिलालकी भी न थी और मणिने भी कभी इस बातका दावा न किया। उसके नित्यकर्मोंमेंसे ही एक यह भी था कि वह दिनके किसी न किसी समय कनकके यहाँ जाता। कनक भी ऐसी कि यदि मणिलाल कभी न आता तो टेलीफोन करती। मणिलालको शायद इससे अधिककी फुरसत न थी। यह बात नहीं कि वह बड़े व्यवसायीका पुत्र होनेके नाते कनकसे अपनेको बड़ा मानता हो अथवा अपने व्यवसायको अधिक महत्त्व देता हो पर बात यह थी कि उसका अधिकांश समय बम्बई प्रदेशकी इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन काँग्रेसके संगठनमें बीतता था। यद्यपि इस संगठनमें

काम करने और उसका नेतृत्व अपने हाथमें रखनेमें उसका स्वार्थ भी था पर प्रकृतिसे वह उस परम्परामें आता था जिसे पिछले ६०–७० वर्षोंमें काँग्रसने बनाया था और जिसकी कायामें गाँधीजीके आत्माने प्रवेश किया था। मणिलालका विश्वास था कि भारतको न तो प्रधानतः औद्योगिक देशके रूपमें रहना चाहिए और न ही उसे कृषिप्रधान देशके रूपमें विश्व-संघटनमें प्रवेश करना चाहिए। वह तो इन दोनोंमें संतुलन और समन्वय चाहता था और इसीलिए वह कहता था कि उसने इण्डियन-नेशनल-ट्रेड-यूनियन कॉंग्रेसको अपना कार्यक्षेत्र बनाया है। कनकसे उससे यदि कभी विवाद होता तो केवल इस बातपर कि वह देशको व्यवसाय और कृषिके समन्वित और संतुलित आधारपर आगे बढ़ते देखना चाहता था और कनक यह माननेके लिए तैयार न थी कि भारत प्रधानतः औद्योगिक हुए बिना कभी भी आगे बढ़ सकेगा। कनक भारतमें भौतिक भूख जगाना चाहती थी और मणिलालको कल-कारखानोंकी गड़गड़ाहटमें, बम्बईके विशाल जनरवमें, विज्ञानकी प्रयोगशालाओंमें, ट्रामों और बसोंकी बेसुध दौड़में, हवाई जहाजोंकी भन्नाहटमें, पानीपर दूर जाते हुए बिन्दु सदृश जलयानोंसे निकलते वाष्प-समूहोंमें, तथा लहराते खेतोंमें, घरेलू चक्कियोंकी घुरघुराहटमें, कुहासेके पीछेसे झाँकते हुए गाँवोंके सन्नाटेमें, बैलगाड़ीमें बैठी हुई वधूके स्वरोंमें, सर्वत्र एक अज्ञात और अनिवर्चनीय शक्तिकी प्रेरणाके दर्शन होते जो कभी मधुर, कभी शीतल, कभी तेजोमय और कभी सहारा देती हुई मंथर गतिवाली नारीके समान सदा ही उससे कहती—"मुझे पहचानो,

और मेरे लिए प्रयत्न करो। मैं ही वह एकता हूँ जिसकी तुम्हें खोज है, मैं ही वह शक्ति हूँ जिसे तुम वरण करना चाहते हो, मैं ही वह संघटन हूँ जिसमें तुम आबद्ध हो, मैं ही वह विघटन हूँ जिससे तुम बचना चाहते हो, मैं ही वह प्रेरणा हूँ और मैं ही प्रेरक हूँ।" कनक इसे कोरी बकवास मानती और दोनोंका झगड़ा एक दूसरेके उठ जानेमें ही समाप्त होता था। पर फिर दोनों ही साँझ-सबेरा होते जुट जाते और फिर बातचीतकी चहल-पहल चल पड़ती।

कनकके निकटतम युवकोंमें जयन्त भी था, उसे मणिलाल और उसकी बातें फूटी आँखों भी नहीं सोहती थीं। वह बराबर ही इस प्रयत्नमें रहता कि या तो मणिलाल कनकके यहाँ न आये और या फिर कनक ही उसे ठुकरा दे। पर कनक इन दोनोंमें से एक भी न कर सकी, शायद कर भी नहीं सकती थी। जयन्तके पूछने पर भी वह कोई समुचित उत्तर मणिलालके प्रति आकर्षणका न दे पाती। हाँ, बात समाप्त करनेके लिए वह इतना जरूर कहती—"जाने भी दो। आता है कुछ गपशप ही तो होती है। इसमें तुम्हारा क्या बिगड़ता है?" और फिर दोनों ही कारमें सवार होकर क्लब, मैरीन ड्राइव या जूहूमें जयन्तके बँगले कहीं भी हँसते-खेलते चल देते। जयन्त और कनक, दोनोंमें किसीके भी जीवनमें आमोद-प्रमोदकी कमी नहीं थी। दोनों ही, लगता एक स्वभाव, एक प्राण और दो शरीर हैं। जयन्त और कनककी इस निकटतासे न केवल इनके युवक मित्रोंको ईर्ष्या होती वरन् इनकी नारी मित्रोंमें भी चर्चाका विषय कनक और जयन्तका

सम्बन्ध ही होता । मीना तो कनकको देखना भी नहीं चाहती थी पर कनकके स्वभावमें न तो दुराव था और न द्वेष अतः वह जब भी मीनाको देखती अपने निकट बुलानेका प्रयत्न करती । मीनाके विष-वाक्य कनकका स्पर्श भी न कर पाते । कनक हँसती हुई उनका सहज और साधारण उत्तर देती । मीनाको निरुत्तर होनेके सिवा और कोई चारा न होता । पर बात बढ़ती गई और कनकने देखा कि बम्बई उसके लिए अब असहनीय हो रहा है । वह बम्बईसे कुछ समयके लिए हट जाना चाहती थी । उसे बम्बईसे घृणा न थी । वह बम्बईके समाजको भी अच्छा मानती पर अपनी परिधिसे बाहर जाना चाहती थी । उसे अब मित्रोंकी भीड़ अच्छी न लगती, वह अक्सर ही जयन्तके साथ एकान्त सैर-सपाटेमें ही अपना समय व्यतीत करती ।

[दो]

जून सन् '५७ की २० ता० को बम्बईके सिविलमैरेज रजिस्ट्रेशन कोर्टमें असाधारण चहल-पहल थी । स्वयं उस क्षेत्रमें रहनेवालोंका कहना था कि इतनी मोटरें और इतनी सजधज उन्होंने पिछले कई वर्षोंमें वहाँ नहीं देखी थी । बात कनक और जयन्तके विवाहके रजिस्टेशनकी थी । अदालत भरी थी। कनक और जयन्त दोनों अपने बयान दे चुके थे । आपत्तियाँ माँगी गईं । क्षणभरके सन्नाटेके बाद कान्तिलाल सामने आया और उसने कहा—

"कनक और जयन्तका विवाह नहीं हो सकता । कनकका विवाह यदि किसीसे हो सकता है तो मुझसे, अन्यथा जयन्त

कदापि उसका अधिकारी नहीं। कनक जयन्तके साथ समझौता नहीं कर रही है। यह उसकी पलायन प्रवृत्ति है जो उसे जयन्तके साथ धकेल रही है। कनक जयन्तसे प्रेम नहीं करती। यह उसके द्वन्द्वकी पराजय है। उसके प्रेमकी पवित्रता है, जो आँच तो सह लेगी पर भस्म नहीं होगी। कनक अपनी ही आँधीमें उड़ी जा रही है। वस्तुतः उसका प्रेम दूसरेसे है। वह हृदय दूसरेको दे चुकी है। उसके पास साहस नहीं कि वह इसे कह सके। उसकी इस कमज़ोर स्थितिका लाभ उठाना जयन्तको शोभा नहीं देता। मैं इस विवाहका प्रतिवाद करता हूँ।"

कनकने घूमकर कान्तिलालको देखना चाहा। पर दिखाई पड़ा दूर कोनेमें खड़ा मणिलाल। कनकने स्फुटस्वरमें दुहराया "वह हृदय दूसरेको दे चुकी है और उसके पास साहस नहीं कि वह इसे कबूल कर सके।" वह सीढ़ियोंसे नीचे उतरने लगी। हस्ताक्षरके लिए उठाई गई कलम उसने रख दी थी। लोग उसकी ओर घूमे और देखा कि वह उतरती हुई मणिलाल तक गई और दोनों अदालतसे बाहर हो गये।

● ●

•• कलाकी सृष्टि

"नये कलाकार, तुम्हें यह क्या सूझी ? तुम शब्दोंके चित्र बनाना छोड़कर अब मूर्तिकार कबसे हो गये ? तुम जगतों और विश्वों में कल्पनाके पंख फैलाये निर्बाध भ्रमण करनेवाले प्राणी थे। जब संसार तुम्हें अपने कुविचारों और दुर्व्यवहारोंसे क्षत-विक्षत कर देता था तब भी तुम अपने व्रणोंसे दुर्गंधि और पीबके बदले स्नेह और मंगलाशाका ही सृजन करते थे। कालकी सीमाका अतिक्रमण करने की साध क्या पूरी हो चुकी ? तुम्हारी वह भावना जो तुम्हें जीवमात्रके शरीर और आत्मामें प्रवेश करनेकी शक्ति देती थी क्या तिरोहित हो गई ? मेरे कलाकार ! मैं तुम्हें बताने आई हूँ कि तुम्हारे शब्द नंगे होने पर भी विश्वको ढकनेकी सामर्थ्य रखते थे। जगत्‌के रहस्योंको समझनेकी उद्दाम भूख लेकर तुम उनकी रचना करते थे तो वे दूसरोंकी भूखको मिटानेकी भरपूर ताकतसे उभर उठते थे। तुम्हारे ऐसे ही दिग्वसन और जीवन-भरे शब्द-चित्र तुम्हारे मूक रहने पर भी स्वन करते रहते थे, बोलते रहते थे। आज तुमने यह क्या किया ? क्यों उन्हें छोड़कर मिट्टीके खिलौने बनाने लगे ? तुम मुझे जानते थे। मैं तुम्हें जानती थी पर लोगोंने तुम्हें गलत समझा। आगे भी समझेंगे और तब तुम्हें और भी चोट लगेगी। तुम इतने आहत होकर भी अब और क्या करना चाहते हो ?"

प्रतिभा विश्वम्भरके कमरेमें प्रवेश कर, पुराने विश्वम्भरको पुनः देखना चाहती थी। उस विश्वम्भरको, जो उसके साथ सप्त-सरोवरमें बैठा जाननेवालेको जाननेका प्रयत्न करता था। प्रतिभा उसकी पूजाके फूल चुना करती थी। फिर विश्वम्भर गाता था। उसकी वाणी, उसके स्वर उठकर गंगाके उसपार जाते थे। वह कुहुक उठती थी। विश्वम्भर उसका हाथ पकड़े घने जंगलोंके बीच-से चल पड़ता था। किन्तु उसने देखा उसका विश्वम्भर मिट्टीकी लोइयाँ लिये किसी मूर्तिकी स्थापनामें लगा था। यद्यपि प्रतिभाको यह समझते देर न लगी कि विश्वम्भरकी कल्पनाकी प्रतिमा क्या है। पर उसकी लेखनीसे झरनेवाले अमूर्त चित्रोंमें जो शक्ति थी क्या वह इसमें भी भर पायेगा? उसे लगा यह विश्वम्भरका दुष्प्रयास है। अपनेको मिटानेके लिए वह प्रतिमाका निर्माण कर रहा है और तभी वह आकुल हो एक साँसमें ही यह सब कह गई थी।

विश्वम्भर हाथमें मिट्टीकी छोटी-छोटी लोइयाँ लिये ही लिये सब सुनता रहा। कनखियोंसे प्रतिभाको देखता रहा। प्रतिभा उसके कन्धों पर हाथ रखे कभी उसे और कभी उसकी मूर्तिको देखती थी। वह देख रही थी कि मूर्ति कितनी बेकस है। उसमें विश्वम्भरकी बेबसी, उसके मौन की रेखाएँ बहुत उभरी हुई थीं। वह मन ही मन चीख़ उठी। वह बेचैन थी कि विश्वम्भर बोले, उसकी प्रतिमा बोले पर सब चुप थे। वह आज इसीलिए आई थी कि वह बता दे कि वह नहीं चाहती कि उसके विश्वम्भरको कोई गलत समझे। पर विश्वम्भरको हो क्या गया कि वह मिट्टीकी मूर्ति बनाने पर उतर आया।

अमूर्त साधनोंका धनी, मूर्त और पार्थिव उपादानोंका भिखारी बनना चाहता है क्या ? क्या वह सोचता है कि समाज उसकी बनाई मूर्तिकी पूजा करेगा ? हरगिज़ नहीं। समाज इसे लेकर तोड़ देगा और टूटते हुए विश्वम्भरको देखकर प्रसन्न होगा। सहानुभूतिके दो फूल भी तो न चढ़ायेगा उसकी अर्थी पर। किन्तु प्रतिभा अपने विश्वम्भरको ठीक समझती है। संसारने उसे जितना गलत समझा है, अब वह उसके आगे उसे न जाने देगी। अब वह खड़ी रहेगी, विश्वम्भर और संसारकी समझके बीच अविचल शैलमाला-सी जिसके बीचसे सही रास्ते ही पार जाना सम्भव होगा, अन्यथा गलत रास्ते जानेवाले गिरकर चूर-चूर हो जायेंगे। प्रतिभा विचारमग्न थी।

विश्वम्भर देख रहा था कि यह वही प्रतिभा है। वही उसका मन है, वही उसकी कांति है। उसे बीती बातें एक-एक कर याद आने लगीं। आजसे ३३ वर्ष पूर्वकी बात है। सन् १९२४में गंगामें बाढ़ आ गई थी। मायापुरमें काम लगा हुआ था, इंजीनियरों और ठेकेदारोंकी भीड़ थी, मज़दूर काम पर लगे हुए थे। विश्वम्भरके पिता न इंजीनियर थे न ठेकेदार पर इस भीड़भाड़में वहाँ काम करनेवाले वर्गोंको उनकी आवश्यकता हुआ ही करती थी। समृद्ध और सुपठित हरिशंकर सबका मनोरंजन करते रहते थे। उनका एकमात्र पुत्र विश्वम्भर उनके साथ प्रातः उस पावन कर्मभूमि पर आ जाता था। फिर न उसे खानेकी सुध रहती, न घर जानेकी। वह कभी मज़दूरोंके परिश्रमको देखता और कभी दूर तक फैली पर्वत-श्रेणियोंको। एकके बाद दूसरी ऊँची होती

हुई पर्वतमालाए दूर तक दिखाई देती थीं, और बहुत दूर पीछे एक कोनेसे हिमाच्छादित शिखर भी शिव-मस्तकके समान झाँकता था। दोनों ओर हरी-हरी पर्वतमालाएँ। पेड़ोंके झुरमुटोंसे निकलती हुई गंगाकी नवीन धारा जहाँ रोकी गई थी, वहाँसे हरद्वार छोटी काशी जान पड़ता था। उसके पीछेकी पहाड़ीके सबसे ऊपरी भाग पर ही मनसा देवीका मंदिर था। मंदिरका पुजारी अत्यन्त वृद्ध हो चुका था। उसे भगवती भागीरथीके स्वतन्त्र प्रवाहको अवरुद्ध करनेवालोंका आजसे ७० वर्ष पूर्व किया गया प्रयास अच्छा नहीं लगा था। अतः जब कभी इसप्रकारकी बाढ़ आती वह किसी अनहोनीके भयसे आशंकित हो उठता था। जो गंगा मानव-कल्याणकी जननीके रूपमें स्वयं अवतीर्ण हुई हों उनके शृंगारका, उनकी पूजाका और उनकी अर्चाका यह रूप उसे अच्छा न लगा था। उसने देवीसे प्रार्थना की थी कि "माँ कुछ और होनेके पूर्व ही उसे यहाँसे उठा लेना," और हुआ भी ऐसा ही। जाड़ेकी रात्रिमें देवीके शयनके पूर्व जब वह काँपते हाथोंसे उनकी आरती उतार रहा था तभी उसे एक कंपकंपी आई और आरती वहीं लुढ़क गई।

दूसरे दिन प्रतिभाको जब बतलाया गया कि उसके पिता माँ की आरती उतारने बहुत दूर चले गये हैं और अब बहुत दिन बाद लौटेंगे, तो न ही उसे आश्चर्य हुआ और न वह विकल हुई। वह उस समय इतनी भोली थी कि उसे अपने वयोवृद्ध पितामें और उसके दूसरे समवयस्कोंमें अपने पराये का अन्तर नही मालूम था। इसीलिए जब यह सन्देश देते हुए विश्वम्भरके पिता हरिशंकर

ने उसका हाथ पकड़ लिया और कहा—"चलो बेटी, जब तक तुम्हारे पिता नहीं आते मेरे पास चलकर रहो" तो वह प्रसन्नवदन, उनकी उँगली पकड़कर चल पड़ी थी।

विश्वम्भरके घर आकर उसने जो भी परिवर्तन देखा, वह उसको अच्छा लगा था। यहीं आकर उसका नाम प्रतिभा रखा गया। उसे पहिनने और खानेके अच्छे सामान मिले। खेलनेके लिए अपनेसे उम्रमें बड़ा और सुन्दर बालक विश्वम्भर मिला और सबसे बढ़कर मिला विश्वम्भरके पिताका वात्सल्य। प्रतिभा बढ़ने लगी और विश्वम्भरके जीवनमें कलाकी सृष्टि हुई। वह प्रतिभाको देखता तो देखता ही रहता, और जब तक देखता रहता उसे ऐसा प्रतीत होता मानो उसके मानसमें गंगा प्रवाहित हो रही हों। विश्वम्भर स्पष्ट सुनता था उस अन्तस्सलिलाकी कलकलको। जलकी धाराके उफान और विवर्तोंमें हलचलका उसे अनुभव होता था और वह प्रतिभाके स्नेहकी धारामें पवित्र होता रहता था। प्रतिभा जंगलसे सुन्दरसे सुन्दर फूलोंकी डालियाँ भरकर लाती और सबसे पहले विश्वम्भरको देती। उसके मानस-पूजाके इन फूलोंको विश्वम्भर उसकी वेणीमें गूँथता, उनके शीशफूल बनते, उनके वलय उसकी कलाइयोंकी शोभा बढ़ाते, और वह इस वनदेवीके रूपको, रस और गन्धसे भीना कर देते। विश्वम्भर और बड़ा हुआ और कविता करने लगा। प्रकृतिकी गोदमें पैदा और पला विश्वम्भर प्रतिभाका दान पाकर जगत्के रहस्योंको देखनेकी चेष्टा करने लगा। स्पष्ट न होनेपर भी उसे बिश्वका आयोजन विराट लगा। उसे ऐसा प्रतीत होता जैसे उसका जगत् इस विराट आयोजनकी

लघुतम कड़ीका एक जर्रा मात्र है। उसने अनेक विश्वोंकी कल्पना की। हरिद्वारमें उतरती गंगाको छोड़ वह आकाशगंगामें स्नान करनेकी लालसा लेकर ऊपरकी ओर उठा। वह अपने जीवनके पवित्र तीर्थपर खड़ा मानव-कल्याणका सन्देश देने लगा। उसकी कवितामें वह शाश्वत सत्य प्रकट हुआ जो उसके मनसे निकलनेके पूर्व प्रतिभाकी मानसगंगामें पवित्र होता, बाहर आनेपर उसे हरिप्रिया गंगाके दर्शन होते और आकाशगंगाकी ओर दृष्टि होनेके कारण वह सदा ही उदात्त और ऊपर उठानेवाला होता। इस भूमिकामें प्रवेश कर चुकनेके बाद उसका स्व मिट चुका था। नगाधिराज हिमालयकी समाधिको भंग करती हुई गंगाके लय और तालपर विश्वम्भरके अन्तरके तार इस प्रकार मिले हुए थे कि उसे विश्व-संगीतको सुनने-समझनेमें कठिनाई नहीं होती थी। उसे इसका पता भी न होता कि कब प्रतिभा आई और अपने मनः-प्रसूनसे उसको ढक लिया। निर्निमेष विश्वम्भर कई आकाश-गंगाओंकी सैर करता हुआ जब लौटता तो प्रतिभा खिलखिला पड़ती।

"इतनी देरसे इन फूलोंको लिये बैठी हूँ और तुम जाने कहाँ खोये थे"—प्रतिभा दुलरा उठती।

"तुमने बताया क्यों नहीं"—विश्वम्भर स्मितसे कहता।

"मुझे साहस ही नहीं होता तुम्हारी समाधिमें उतरनेका"—प्रतिभा गम्भीरतासे कहती। विश्वम्भर उसके वेणी-श्रृंगारमें जुट जाता। सन्ध्या अपनी सुहागकी बिंदियाँ छिटका कर चली जाती। रात्रि नूपुरोंके अणुरणनसे अभिसारका आमन्त्रण देती। झिल्लियाँ

झनकार उठतीं। प्रतिभाको लेकर विश्वम्भर घरकी ओर लौट पड़ता। जंगलकी अँधियारीसे चन्द्रमा इनको झाँक कर देखना चाहता। रात्रिकी रेणु चमक कर प्रकाश देनेका प्रयास करती।

पहले तो किसी ने इस ओर ध्यान न दिया पर जब प्रतिभाके शरीरसे प्रेमकी चिनगारी फूटने लगी तो गंगाके किनारे रहनेवाले और रोज़ अपने शरीरको उसकी पावनी जलधारासे पूत करनेका स्वांग भरनेवालोंके भी मनकी काई उनका फिसलन बनने लगी। कानाफूसी, भृकुटिविलास और अंगुलि-निर्देश सभी अस्त्र-शस्त्र काम में लाये गये, पर प्रतिभा और विश्वम्भरके आँख-कान कुछ दूसरा ही देखते सुनते थे। पर वाह रे संसार और उसका समाज कि घोंसलेको उजाड़कर महल बनानेकी चेष्टा करता है। ईर्ष्याका पुतला, प्रेमका नाटक करता है। विश्वम्भर मजबूर हो गया इस समाजको छोड़नेके लिए। उसे अपनी परवाह न थी पर अपनी प्रतिभा पर आँच नहीं आने देना चाहता था। तभी वह प्रयाग चला आया।

विश्वम्भरको प्रयाग रहते आज १० वर्षसे ऊपर हो गये। प्रतिभाका विवाह विश्वम्भरके हटते ही उसके पिताने एक सुयोग्य लड़केसे कर दिया था। विश्वम्भर प्रतिभाके विवाहके अवसर पर ज्वालापुर न आ सका था, इसलिए कि वह अस्वस्थ था और प्रतिभाका विवाह भी न टाला जा सकता था, इसलिए कि उसका भावी पति उसी साल विदेश जानेवाला था। किन्तु पिछले तीन वर्षों से प्रतिभा अपने पतिके साथ प्रयागमें ही रह रही है। जिस दिनसे वह आई विश्वम्भरसे मिलना चाहती थी। विश्वम्भर स्वयं उसके

पास जाना चाहता था और एक बार पुनः अपनी प्रतिभाके दर्शन करना चाहता था। पर विश्वम्भर और प्रतिभाके सम्बन्धको लोगों ने जिस रूपमें उसके विवाहके पूर्व देखा था, उसकी स्मृति विश्वम्भरके लिए सहस्रों बिच्छुओंके डंकोंके समान थी। वह प्रतिभाको देखना चाहता था पर यह नहीं चाहता था कि लोग उसे फिर देखें, उसकी प्रतिभाको देखें। पर वह कैसे देखें, विश्वम्भर कवि-सम्मेलनोंमें नहीं जाता। उसने कविता छोड़ दी थी। प्रतिभा यह जानती थी कि अब वह कविता न लिखेगा। पर क्या वह विश्वम्भरको इस संसारसे खाली ही उठ जाने देगी? क्या उसे अंतिम दिनोंमें केवल विश्वकी कुरूपता ही देखनेको मिलेगी? वह सोचने लगी। भावप्रवण हुई और उसके आकुल प्राण विश्वम्भरकी खाली आँखोंमें एक बार फिर आ बसे। विश्वम्भर प्रतिभाकी प्रतिमा बना रहा था। प्रतिभाने एकबार उसके मानसमें जिस रसधाराको प्रवाहित किया था वही उसकी आँखोंसे निकलकर उसका आचमन बन रही थी। विश्वम्भर उसी प्रतिमाकी पूजा करेगा—प्रतिभा उससे दूर रहेगी।

विश्वम्भर अब भी उसे कनखियोंसे ही देख रहा था। भरपूर उसकी ओर देखनेका साहस ही नहीं हो रहा था। प्रतिभाके नेत्रोंसे स्नेह, सहानुभूति और सच्चाईकी स्निग्ध धारा आँसू बनकर विश्वम्भरके मन और शरीरको एक बार पुनः पवित्र कर रही थी। विश्वम्भरके हृदयमें बहनेवाली विश्वप्रेमकी निर्मल मंदाकिनीमें भी बाढ़ आ गई। उसके नेत्रोंसे कई और धाराएँ फूट पड़ीं। आँसुओंके बीचसे उसकी अधबनी मूर्तिमें भी वेदना मुखरित हो उठी। वह

काँपी कि विश्वम्भरने उसे पकड़ लिया। मूर्ति गीली थी, उस पर उसकी कठोर उँगलियोंकी साटें उभर आईं। अपनी ही कला सृष्टिको अपने ही हाथों विकृत करना कितना असह्य था, पर प्रतिभा देख रही थी कि यह उसीकी खातिर हो रहा था। वह सिसक उठी। विश्वम्भरने उसे स्नेहसे सँभाला, और अपनी मिट्टी सनी उँगलियाँ उसके गालों पर फेरता हुआ बुदबुदाया— "मेरी कला-सृष्टि। मेरी प्रतिभा!"

● ●

•• विचार-मूर्ति

पं० दिवानाथ अपने पिताके पाँच पुत्रोंमेंसे सबसे छोटे थे। घरमें सब लड़के ही लड़के थे। सबसे छोटे होनेके कारण बड़े भाइयों और माता-पिताका स्नेह तो मिला पर वह ऐसा स्नेह था जिसमें किसी अभावकी प्रतीतिकी टीस भी थी। वह कौन-सा तत्त्व था जिसकी कमीके कारण उनके प्राप्त स्नेहमें खोंच आ गई थी इसका पता उन्हें बहुत दिनों तक न लगा। तब भी नहीं जब उनका विवाह हुआ। यद्यपि विवाहके बाद उनके भाइयोंने उन्हें अलग कर दिया, फिर भी ऐसा करते समय उन्होंने कोई कटुता उत्पन्न न होने दी। कठोर न होते हुए भी उन्हें अपने भाइयोंका यह व्यवहार समझमें न आया। उन्हें अपना घर और समाज काटने लगा। अपरिचित स्त्रीके साथ विवाहकी प्रथा आज भी अपने यहाँ बहु-प्रचलित, प्रतिष्ठित और सुव्यवस्थित है। पर विवाहके बाद ही इस प्रकार दूसरे घरसे लाई हुई युवतीसे पूर्णतः अपरिचित होनेपर भी पुरुष उसके समीप हो ही जाता है। वह उसकी सहचरी बन ही जाती है। यहाँ तक कि दोनों ओर दिव्य-प्रेमकी लौ जलती हुई प्रतीत होने लगती है। यहाँ तक कि यह प्रतीति जीवनका सत्य बन जाती है और जन्म-जन्मान्तरकी टेक लेकर एक दिन इहलीला भी समाप्त करती है। कैसे साक्षात् होते ही दोनों एक दूसरेसे परिचित हो जाते हैं? पहले उनका शरीर मिलता है अथवा प्राण मिलते हैं? प्राणोंकी एकतानता ही जीवनका अध्यात्म है,

शरीरका स्वारस्य व्यभिचार। फिर भी पुरुष शरीरके प्रतिवादित आधिपत्यको मोक्षकी सर्वोत्तम सीढ़ी मान लेता ही है। दीपकोंको सटाकर रखना और उनकी लौका मिलना दोनों दो वस्तुएँ हैं। विवाहके बहुत दिनों बाद तक दिवानाथ इस रहस्यको सोचते ही रहे। उन्हें अपनी पत्नी, जिन्हें इतने हौसलेके साथ उनके भाइयोंने उनके साथ विवाह-सूत्रमें बाँध दिया था, अपरिचित ही लगती रहीं। इसीलिए एक अपरिचित स्त्रीके साथ वह कैसा व्यवहार करें यह प्रश्न उन्हें मथने लगा। फिर भी उन्होंने परस्पर मित्र-भाव बनाने और उसे बढ़ानेकी भरपूर चेष्टा की। लेकिन घरका वातावरण जैसा हो गया था उसमें उन्हें वह एकान्त न प्राप्त था जिसकी उन्हें आवश्यकता थी। यद्यपि अपनी पत्नीके साथ एकान्त भाव बनाये रखनेमें वहाँ कोई अड़चन न थी, फिर भी उन्हें वहाँ शान्ति न मिलती। ले-देकर वह इतने घबराये कि उन्हें अपना गाँव और समाज छोड़ना ही उचित जान पड़ा और एक दिन वह चुपचाप घरसे चल पड़े।

पंडित दिवानाथ घरसे चलकर कलकत्ते आये और फिर वहाँसे एक अँग्रेजी कम्पनीमें नौकर होकर आसाम चले गये। यहाँ तक तो उनके घरवालोंको भी मालूम रहा। पर जब आसाम पहुँचकर उन्होंने अपनी पत्नीको भी बुला लिया तो यह उनके घरसे चिरविच्छेदका अन्तिम चरण हुआ। नौकरी करते हुए प्रवासमें उनका गृहस्थ जीवन प्रत्यक्षतः सुखपूर्वक बीतता रहा। पर उन्हें एक चिन्ता थी जो घुनकी तरह लगी रही। वह अहरह सोचते रहते कि यदि उन्हें सन्तान हुई तो उसके विकासमें उनका

क्या योगदान होगा ? वह अपनी पत्नीसे भी बात करते तो घूम-फिरकर उनका यही विषय प्रधान हो जाता। सन्तान और उसके भावी जीवनके सौष्ठवकी कामनासे ओतप्रोत उनकी बातें उनकी पत्नीके मनमें एक भय-सा उत्पन्न करने लगीं। सम्भवतः उनके मन पर इसका बुरा असर पड़ा। वह सोचने लगीं कि क्या उनके पतिको इसका भय है कि उन्हें सन्तान होगी ही नहीं ? यदि न हुई तो क्या हमारा उनका सम्बन्ध इसी कारण कटु हो जायगा ? क्या वह उन्हें पाकर भी खो देंगी ? इस उधेड़ बुनमें तो वह रहतीं पर उनके मनमें यह विचार कभी भी न उठता कि जिस चीज़को पानेमें उन्हें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ा था उसके खोनेसे उन्हें क्या विशेष दुःख होगा ? उनकी निष्ठा, चाही-अनचाही वस्तुको भी प्राप्त कर उसमें ऐसी ही दृढ़ हो गई थी जैसे कलाकारको अपनी कृतिमें होती है, भले ही वह उसकी कल्पना और आदर्शोंसे कुछ भिन्न ही क्यों न हो।

पर वह दिन भी आया जिस दिन महामायाने एक अत्यन्त रूपवती कन्याको जन्म दिया। उसके रूप-गुणको देखकर ही उन्होंने उनका नाम मीनाक्षी रखा। मीनाक्षीके जन्मके साथ ही साथ दिवानाथका स्वभाव-परिवर्त्तन भी प्रारम्भ हो गया। उन्हें अपनी पत्नी महामाया सुन्दरी जान पड़ने लगीं और जन्म-जन्मकी सहचरी भी। उनके हृदयमें बहती हुई प्रेमकी अंतस्सलिला आधार पाकर बाहर प्रकट हो गई और उन्हें अपना घर-द्वार, भाई-बंधु और समाज सब याद आने लगे। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मानव जीवनमें पुरुषका स्थान तब तक सार्थक और सत्य नहीं जब तक

उसमें नारीकी सृष्टि न हो। नारी ही जगत्का सत्य, शिव और सुन्दर है और उसीमें शिवेतर क्षतिकी सामर्थ्य भी। मीनाक्षीको पाकर जगत् और उसके स्वभाव-सौंदर्यकी सारी कल्पना वह उसीमें प्रतिष्ठित करने लगे। उन्हें मीनाक्षी ऐसी लगती जैसे वह सृष्टिकी चेतना हो, उसका सौंदर्य हो और उसकी कल्पना भी। वह भूल गये कि चित्रका दूसरा पक्ष भी होता है।

सन् '४७में आज़ादीके बाद अंग्रेजी कम्पनीकी स्थिति डांवांडोल हो गई और पं० दिवानाथका मन भी आसामके चाय-बगानोंसे उच्चट चला था। मीनाक्षी भी बड़ी हो गई थी। अब उसका भी विवाह होना था। फिर विवाह भी अपने समाजमें ही हो यह महामायाकी तीव्र उत्कण्ठा थी। महामाया और उनकी तीव्र उत्कण्ठाकी बात मैं इसलिए कहता हूँ कि दिवानाथका जो व्यवहार कई वर्षों तक, या यों कहा जाय कि मीनाक्षीके जन्म तक महामाया के साथ रहा और जिस प्रकारके विचार और शंकाएँ वह समय-समय पर प्रकट करते रहे उससे महामाया आज भी आतंकित थीं। और सच भी यही हुआ। दिवानाथकी मनःस्थितिने फिर पलटा खाया। और वह पुरुष-स्त्रीके संबंधोंके विषयमें विचारशील हो उठे। शरीर-सम्बन्धके बाद उत्पन्न होनेवाला प्रेम केवल मोह और व्यभिचार है अथवा उसीको सत्य और सदाचार माना जाय या फिर प्रेम वह है जो शरीरकी याचना नहीं करता, केवल दो प्राणोंकी लौ जलाकर एकाकार हो जाता है और इस प्रकार अस्पृश्य होने पर ही पवित्र और सत्यकी संज्ञा प्राप्त करता है। यह सब बातें उनके विचार-मन्थनका

कारण बनने लगीं। इसी उधेड़-बुनमें उन्होंने अपनी पत्नी और मीनाक्षीके साथ आसामसे विदा ले ली।

उस साल उत्तर प्रदेशके पूर्वी हलकोंमें घोर सूखा पड़ा था। पानीका नामोनिशान न था। जो कुछ पानी नहरों और नलकूपोंसे मिला उसीसे किसानोंने एक बार फिर भूमिको हरा-भरा करनेका प्रयत्न किया पर जमीनमें नमीके नितान्त अभावके कारण नवम्बरके आखीरमें भी रात भींगने तक हवा अच्छी लगती थी। मन बाहर घूमनेके लिए उत्सुक रहता था। प्रारम्भमें मैं यह कहना भूल गया था कि पं० दिवानाथ उत्तर प्रदेशके इसी पूर्वी अंचलमें स्थित बलिया ज़िलेके निवासी थे और जब वहाँ भी सूखाका हाहाकर मचा तो दिवानाथ और मीनाक्षीने अपने ग्रामवासियोंको बड़ी हिम्मत बँधाई थी। गंगाके नज़दीक जहाँ उनका गाँव था प्रायः उसके उस पार ही बक्सरकी मिलोंकी चिमनियाँ और पक्के मकान दिखाई पड़ते रहते थे। बक्सरसे इस पार उस पार नावोंका आना जाना लगा ही रहता था। इन्हीं नाविकोंमेंसे जार्ज भी एक था। जार्ज भी वस्तुतः बक्सरके इसी पार बलिया ज़िलेका ही रहनेवाला था। पर बचपनसे वह जिस स्कूलमें पढ़ता था बड़े होने पर उससे निकलकर उसके नामका एक हिस्सा जार्ज कैसे हो गया और वह क्यों कर ईसाई माना जाने लगा वह सब इस कहानीका प्रसंग नहीं। पर इतना सत्य है कि इसी प्रसंगको लेकर उसके माता-पिताने उसे छोड़ दिया था और बड़े होने पर वह उस पार बक्सरमें ईसाइयों की बस्तीमें जाकर रहने लगा था इस पारके स्वजन उसे अपना नहीं मानते फिर भी उसे इस पार

आना अच्छा लगता था, और वह चाहता भी था कि उसका इस पार कोई हो।

मीनाक्षीको बलिया, अपने गाँव आकर तनिक भी अच्छा न लगा फिर भी वह पिताके प्रेमको पहचानती थी। वह जानती थी कि शायद ही कोई ऐसा पुरुष होगा जो उसे इतना प्यार करे और इसीलिए वह इस गाँवके प्रति अपनी अनिच्छाकी भावनाको प्रकट नहीं होने देती थी। पर उसका यहाँ घरकी चहारदीवारीमें २४ घण्टे बन्द रहना सम्भव न हो सका। पिताके साथ तो वह बाहर जाती थी पर ठंडकमें चाँदनी निकल पड़ने पर वह अकेली मटर, गेहूँ और जौ की हरियाली भरी मेड़ों पर कदम रखती गंगाके कगार तक पहुँच जाती थी। नदी तट पर तारे छिटक जाने तक भी बैठी रहना उसे अस्वाभाविक न लगता यद्यपि महामाया चिन्तित होने लगी थीं। एक दिन उसके इसी एकान्तमें हिन्दी गाना गाते हुए एक नाविककी नाव किनारे आ लगी और दोनोंही एक दूसरे को देखकर चौंके और सहमे। फिर वह अक्सर मिलते और मीनाक्षी बहुधा ही उसकी नाव पर गंगाकी मचलती चाँदनीको पकड़नेकी चेष्टा करने लगी। वह शुक्ल पक्षमें दिवानाथके साथ और कभी अकेले जार्जकी नाव पर गंगाकी सैर करती। पर यह सैर केवल सैर ही न होती इसमें जार्जकी मनस्विता और बुद्धि-जीवित्वका परिचय भी मिलता। महामायाके बहुत आग्रह पर दिवानाथने मीनाक्षीका विवाह करना निश्चित कर लिया, और एक सुयोग्य वरसे उसका विवाह ठीक भी होगया। विवाहकी तेयारियाँ धूमसे होने लगीं। दिवानाथके पास पैसोंकी कमी न थी

और एक ही सन्तानके लिए वह कुछ उठा रखना नहीं चाहते थे। महामाया प्रसन्नतासे सारा प्रबन्ध करनेमें जुटी रहतीं पर उन्हें ऐसा लगता जैसे उनके मनसे खुशीको कोई खरोच रहा हो। दिवानाथ जब भी घरके अन्दर जाते उनकी सूखी हँसीमें निकले हुए दाँत रेतीली भूमिमें रजकणके समान चमक उठते पर उनकी यह हँसी महामायाके मनमें अज्ञात भयकी बिजली कौंधा देती थी।

मार्गशीर्षकी चतुर्दशीको रात्रिके नौ बजे विवाह-मण्डप सजावट और प्रसन्नतासे ओत-प्रोत हो रहा था। वर-वधू अग्निके सम्मुख बैठकर वेदमन्त्रोंसे अपना संस्कार करा रहे थे। आँगनके किनारे बरामदेके खम्भेसे लगा जार्ज भी यह सब देख रहा था। दिवानाथ कन्यादानके लिए बुलाये गये। दुहिताको आगे गोदमें लेकर संकल्पके लिए उन्होंने हाथ बढ़ाया ही था कि उनकी दृष्टि जार्जपर पड़ी। मुँहसे सहसा निकल पड़ा—"बेटे जार्ज! तुम वहाँ क्या खड़े हो?" जार्जका नाम सुनते ही मीनाक्षी चौंक पड़ी। दिवानाथ उठ खड़े हुए, उन्होंने विवाह-कृत्य रोक देनेका आदेश दिया।

इससे क्या बवण्डर उठा और वह कैसे शान्त हुआ यह बताना तो निरर्थक-सा ज्ञान पड़ता है, पर उसके दूसरे ही दिन जार्जकी नावपर पं० दिवानाथ, महामाया और उनकी विचार-मूर्ति मीनाक्षी गाँव छोड़कर बक्सर चले गये और उन्होंने जार्जके साथ आसामके लिए प्रस्थान कर दिया। यह आज भी उस गाँवमें चर्चा का विषय बना ही रहता है।